November 2023

Bulletin of Sri Aurobindo International Centre of Education

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र पत्रिका

(हिन्दी-विभाग)

नवम्बर २०२३

श्रीअरविन्द आश्रम

पॉण्डिचेरी, भारत

बुलेटिन नवम्बर २०२३

विषय-सूची

समता की पूर्णता	श्रीअरविन्द	३
मोद स्मिथ के साथ श्रीमाँ का पत्र-व्यवहार	श्रीमाँ	८
संवेदनशीलता	श्रीअरविन्द	१७
सुरक्षा और संरक्षण	'श्रीमातृवाणी' से	१८
आन्तरिक समर्पण	श्रीअरविन्द	१९
९ मई १९५६ का वार्तालाप	'श्रीमातृवाणी' से	२१
शरीर की चेतना	श्रीअरविन्द	२५
ग्राम-सुधार	श्रीमाँ	२६
श्रीअरविन्द के उत्तर (९०)		२७

समता

'योग-समन्वय' में

श्रीअरविन्द ने कहा है कि समता उनके सर्वांगीण योग की नींवों में से एक नींव है। *योग-समन्वय* के चार अध्यायों में उन्होंने उसकी महत्ता और अर्थ का खुलासा किया है। इस शृंखला में उनके इन्हीं अध्यायों को दिया जायेगा। बुलेटिन के इस अंक में हम "समता की पूर्णता", भाग-४ के अध्याय ११ का अन्तिम भाग दे रहे हैं।

समता की पूर्णता

आत्मा की ही नहीं बल्कि प्रकृति की भी पूर्ण समता आत्मसिद्धि-योग की शर्त है। प्रत्यक्षतः ही, इसके लिए पहला क़दम यह होगा कि हम अपनी भावप्रधान और प्राणिक सत्ता पर विजय प्राप्त करें; क्योंकि बड़े-से-बड़े विक्षोभ के उद्‌गम, असमता और दासता की सर्वाधिक दुर्दान्त शक्तियाँ और हमारी अपूर्णता की सबसे अधिक आग्रहपूर्ण माँग हमारी भावप्रधान और प्राणिक सत्ता में ही निहित हैं। अपनी प्रकृति के इन भागों की समता हमें शुद्धि और मुक्ति से प्राप्त होती है। हम कह सकते हैं कि समता मुक्ति का असली चिह्न ही है। प्राणिक कामना के आवेग के आधिपत्य से तथा आत्मा पर वासनाओं के प्रचण्ड प्रभुत्व से मुक्त होने का मतलब ही है शान्त और समतापूर्ण हृदय को तथा एक ऐसे प्राण-तत्त्व को प्राप्त करना जो विश्वात्मा की विशाल और समदृष्टि से नियन्त्रित हो। कामना प्राण की अशुद्धि और बन्धन-शृंखला है। मुक्त प्राण का अभिप्राय है सन्तुष्ट और तृप्त प्राणमय पुरुष जो बाह्य पदार्थों के स्पर्श का सामना बिना किसी कामना के करता है और एक समान प्रत्युत्तर के साथ उनका स्वागत करता है; मुक्त होकर, रुचि और अरुचि के दासतापूर्ण द्वन्द्व से ऊपर उठ कर, सुख-दुःख की प्रबल प्रेरणाओं के प्रति उदासीन रहता हुआ, प्रिय वस्तुओं के द्वारा हर्षोत्फुल्ल तथा अप्रिय के द्वारा क्षुब्ध और अभिभूत न होता हुआ, जो स्पर्श उसे पसन्द हैं उनके साथ आसक्ति के भाव में न चिपकता हुआ और जिनके प्रति उसे तीव्र घृणा है उन्हें उग्रतापूर्वक दूर न हटाता हुआ वह अनुभव के मूल्यों की एक महत्तर प्रणाली की ओर उन्मुक्त हो जायेगा। संसार से उसके पास भय या अनुनय के साथ जो कुछ भी आयेगा उस सबको वह उच्चतर तत्त्वों के आगे, अर्थात् आत्मा के प्रकाश एवं शान्त आनन्द के स्पर्श में रहने वाले या उसके द्वारा परिवर्तित बुद्धि और हृदय के आगे विचारार्थ प्रस्तुत करेगा। इस प्रकार शान्त होकर, आत्मा के वशीभूत होकर और पहले की तरह हमारे अन्दर की गभीरतर एवं सूक्ष्मतर अन्तरात्मा पर अपने प्रभुत्व को लादने की चेष्टा

न करता हुआ यह प्राणमय पुरुष स्वयं अध्यात्ममय हो जायेगा और चीज़ों के साथ आत्मा के दिव्यतर व्यवहारों के विशुद्ध और उदात्त यन्त्र के रूप में कार्य करेगा। यहाँ प्राण-आवेग तथा उसके सहजात उपयोगों और कार्यों का वैराग्यपूर्वक उच्छेद करने का कोई प्रश्न ही नहीं है; आवश्यकता है इसका रूपान्तर करने की न कि उच्छेद। प्राण का कार्य है उपभोग, पर सत्ता का वास्तविक उपभोग एक आन्तरिक आध्यात्मिक आनन्द है, न कि हमारे प्राणिक, भावुक या मानसिक सुख के समान मर्यादित और अशान्त आनन्द, प्राणिक, भावनामय और मानसिक सुख आज स्थूल मन की प्रधानता के कारण हीनता से ग्रस्त हैं, पर वास्तविक उपभोग तो एक विराट् और गहन-गभीर आनन्द है, आध्यात्मिक आनन्द का एक पुञ्जीभूत सघन रूप है जो आत्मा और समस्त सत्ता के शान्त परमोल्लास में प्राप्त होता है। स्वत्व-प्राप्ति प्राण का कार्य है, स्वत्व-प्राप्ति के द्वारा ही अन्तरात्मा को पदार्थों का आनन्दोपभोग प्राप्त होता है, पर यह स्वत्व-प्राप्ति वास्तविक होती है, एक विशाल और आन्तरिक वस्तु होती है, यह उस बाहरी पकड़ पर निर्भर नहीं करती जो हमें पकड़ में लायी गयी वस्तु के अधीन कर देती है। समस्त बाह्य प्राप्ति एवं उपभोग आध्यात्मिक आनन्द की अपनी ही जगत्-सत्ता के रूपों और दृग्विषयों के साथ तृप्त और समलीला का एक साधनमात्र होगा। अहंकारमय प्राप्ति, अर्थात् भगवान् पर तथा जीवों और जगत् पर अहं के अधिकार के अर्थ में वस्तुओं को अपनी बना लेने की वृत्ति—**परिग्रह**—को त्यागना होगा, ताकि यह महत्तर वस्तु अर्थात्, यह विशाल, विश्वमय और सर्वांगपूर्ण जीवन प्राप्त हो सके। **त्यक्तेन भुञ्जीथाः**—कामना और प्राप्ति की अहंकारमय भावना का त्याग करने से ही आत्मा अपनी सत्ता का तथा विश्व का दिव्य रूप में आनन्दोपभोग करती है।

इसी प्रकार मुक्त हृदय एक ऐसा हृदय होता है जो भावों और रागावेशों के आँधी-तूफ़ान से मुक्त होता है; शोक, क्रोध, घृणा और भय का आक्रामक स्पर्श, प्रेमजनित असमता, हर्षजनित विक्षोभ और दुःखजन्य वेदना—ये सब समत्वपूर्ण हृदय से दूर हो जाते हैं जिससे कि वह एक विशाल, शान्त, सम, प्रकाशमय एवं दिव्य तत्त्व ही बना रहता है। ये वस्तुएँ हमारी सत्ता की मूल प्रकृति के लिए अनिवार्य नहीं हैं, बल्कि हमारी बाह्य और सक्रिय मानसिक एवं प्राणिक प्रकृति की वर्तमान बनावट की तथा अपनी परिस्थितियों के साथ उसके व्यवहारों की उपज हैं। हमारी अहंबुद्धि ही हमारे हृदय की इन अशुद्ध क्रियाओं के लिए उत्तरदायी है क्योंकि वह हमें ऐसी पृथक् सत्ताओं के रूप में कार्य करने के लिए प्रेरित करती है जो अपनी पृथक् व्यक्तिगत माँग और अनुभूति को विश्व के मूल्यों की कसौटी बनाती हैं। जब हम अपने अन्तःस्थ भगवान् तथा विश्वगत आत्मा के साथ एकत्व में जीवन धारण करते हैं तो ये अपूर्णताएँ हमसे झड़ कर अलग हो जाती हैं और आन्तरिक आध्यात्मिक सत्ता के शान्त और सम बल एवं आनन्द में विलीन हो जाती हैं। वह भागवत सत्ता सदा ही हमारे अन्दर विद्यमान है और इसके पहले कि बाह्य स्पर्श हमारे अन्तःस्थ प्रच्छन्न चैत्य पुरुष में से होते हुए उस तक पहुँचे वह उन्हें रूपान्तरित कर देती है; यह चैत्य पुरुष उसका एक गुप्त साधन है जिसके द्वारा वह अपने सत्ता-सम्बन्धी आनन्द का उपभोग करती है। हृदय की समता के द्वारा हम अपने उपरितल पर रहने वाले

अशान्त कामनामय पुरुष से दूर हट जाते हैं, इस गभीरतर सत्ता के द्वारों को खोल देते हैं, इसकी प्रतिक्रियाओं को प्रकाश में ले आते हैं और जो कुछ भी हमारी भावप्रधान सत्ता को प्रलोभित करता है उस सब पर उनके सच्चे दिव्य मूल्यों को आरोपित करते हैं। इस पूर्णता का फल होता है आध्यात्मिक संवेदन प्राप्त करने वाला, मुक्त, प्रसन्न, समत्वयुक्त और विश्वप्रेमी हृदय।

इस पूर्णता में भी कठोर वैराग्यमय संवेदनहीनता या तटस्थ आध्यात्मिक उदासीनता का अथवा आत्मदमन की कष्ट-साध्य कर्कश तपस्या का कोई प्रश्न नहीं है। यह भावप्रधान प्रकृति का उच्छेद नहीं, रूपान्तर है। यहाँ हमारी बाह्य प्रकृति में जो भी चीज़ें अपने-आपको विकृत या अपूर्ण रूपों में प्रस्तुत करती हैं उन सबका कुछ महत्त्व और उपयोग है, जब हम उनसे पीछे हट कर दिव्य सत्ता के महत्तर सत्य में प्रवेश करते हैं तो उनका महत्त्व और उपयोग प्रकट हो जाते हैं। प्रेम का उच्छेद नहीं होगा बल्कि वह पूर्णता को पहुँच जायेगा, विस्तृत होकर अपनी विशालतम क्षमता को पा लेगा, गहरा होकर अपने आध्यात्मिक हर्षोल्लास को प्राप्त कर लेगा, ईश्वर-प्रेम और मानव-प्रेम बन जायेगा, अपनी आत्मा के रूप में तथा भगवान् की सत्ताओं और शक्तियों के रूप में सभी वस्तुओं में प्रेम का रूप धारण कर लेगा; एक विशाल एवं सार्वभौम प्रेम, जो नानाविध सम्बन्ध स्थापित करने में सर्वथा समर्थ होगा, क्षुद्र हर्षों और शोकों तथा आग्रहपूर्ण माँगों से युक्त दावा करने वाले, अहंकारमय और स्वार्थपरायण प्रेम का स्थान ले लेगा; यह स्वार्थपरायण प्रेम उन क्रोधों, ईर्ष्याओं, तुष्टियों, एकता-प्राप्ति के उतावले प्रयत्नों तथा क्लान्ति, सम्बन्ध-विच्छेद और विरह की गतियों के समस्त चित्र-विचित्र जाल से पीड़ित होता है जिन्हें हम आज इतना अधिक महत्त्व देते हैं। दुःख का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा, पर विश्वजनीन एवं समत्वपूर्ण प्रेम और सहानुभूति उसका स्थान ले लेंगे, वह सहानुभूति दूसरों के दुःख में दुःख अनुभव करने वाली नहीं होगी बल्कि एक ऐसी शक्ति होगी जो अपने-आप दुःखमुक्त होने के कारण दूसरों का धारण-पोषण करने, उन्हें सहायता पहुँचाने और मुक्त करने में सक्षम होती है। मुक्त आत्मा में घृणा और क्रोध उत्पन्न नहीं हो सकते, पर उसमें भगवान् की वह प्रबल रुद्र-शक्ति प्रकट हो ही सकती है जो घृणा के बिना युद्ध और क्रोध के बिना संहार कर सकती है, क्योंकि वह जिन वस्तुओं का विनाश करती है उन्हें हमेशा ही अपने अंग एवं अपनी अभिव्यक्तियों के रूप में जानती है, अतएव जिनमें ये अभिव्यक्तियाँ मूर्तिमन्त होती हैं उनके प्रति उसकी सहानुभूति और समझ में कोई भी अन्तर नहीं पड़ता। हमारी समस्त भावमय प्रकृति इस उच्च मोक्षसाधक रूपान्तर में से गुज़रेगी; पर यह ऐसा कर सके इसके लिए पूर्ण समता एक अनिवार्य, फलप्रद अवस्था है।

अपनी शेष सत्ता में भी हमें इसी समता को स्थापित करना होगा। हमारी सम्पूर्ण क्रियाशील सत्ता असमान आवेगों के, अर्थात् निम्न अज्ञानमय प्रकृति की अभिव्यक्तियों के प्रभाव के अधीन कार्य कर रही है। इन आवेगों का हम अनुसरण करते हैं या कुछ अंश में नियन्त्रण करते हैं या फिर इन पर अपनी तर्कबुद्धि, परिष्कारक सौन्दर्य-भावना और सौन्दर्यग्राही मन तथा नियामक नैतिक विचारों का परिवर्तनकारी और संशोधक प्रभाव डालते हैं। हमारे प्रयास का मिश्रित परिणाम

यह होता है कि हमारे अन्दर सत्य और असत्य, उपयोगी और हानिकारक तथा सामञ्जस्यपूर्ण या अव्यवस्थित कार्यों का एक उलझा हुआ स्वर उत्पन्न हो जाता है, मानवीय तर्क और अतर्क, पुण्य और पाप, मान और अपमान तथा उच्च और नीच का और लोकसम्मत तथा लोकनिन्दित पदार्थों एवं कार्यों का परिवर्तनशील मानदण्ड स्थापित हो जाता है, आत्म-प्रशंसा और आत्म-निन्दा का अथवा आत्म-पवित्रता और आत्म-घृणा एवं पश्चात्ताप, लज्जा और नैतिक निराशा का अत्यधिक विक्षोभ उठ खड़ा होता है। निस्सन्देह, इस समय ये चीज़ें हमारे आध्यात्मिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। परन्तु एक महत्तर पूर्णता का अभिलाषी साधक इन सब द्वन्द्वों से पीछे हट कर इन्हें सम दृष्टि से देखेगा और समता के द्वारा क्रियाशील तपस् अर्थात्, आध्यात्मिक शक्ति की तटस्थ और विराट् क्रिया को अपने अन्दर स्थापित कर लेगा; उस तपस् में उसकी अपनी शक्ति और संकल्प दिव्य क्रिया के एक महत्तर शान्त रहस्य के शुद्ध और उपयुक्त यन्त्रों में परिणत हो जाते हैं। इस क्रियाशील समता के आधार पर वह साधारण मानसिक मानदण्डों का अतिक्रमण कर जायेगा। उसकी संकल्प-दृष्टि को अपने से परे एक दिव्य सत्ता की पवित्रता की ओर तथा दिव्य ज्ञान के द्वारा परिचालित दिव्य संकल्प-शक्ति की प्रेरणा की ओर देखना होगा; उसकी पूर्णताप्राप्त प्रकृति उस दिव्य संकल्प-शक्ति का ही एक यन्त्र बन कर रहेगी। यह सब तब तक सर्वथा असम्भव ही रहेगा जब तक क्रियाशील अहं भावुक और प्राणिक आवेगों के तथा व्यक्तिगत निर्णय की पसन्दगियों के अधीन रह कर उसके कार्य में हस्तक्षेप करता रहेगा। संकल्प-शक्ति की पूर्ण समता ही वह शक्ति है जो कर्मों की निम्न प्रेरणा की इन ग्रन्थियों को छिन्न-भिन्न कर डालती है। यह समता निम्न आवेगों को प्रत्युत्तर नहीं देगी, बल्कि मन के ऊपर अवस्थित प्रकाश से आने वाली महत्तर दृष्टिसम्पन्न प्रेरणा को प्राप्त करने के लिए सजग होकर प्रतीक्षा करेगी और बुद्धि के द्वारा निर्णय और नियन्त्रण नहीं करेगी, बल्कि अन्तर्दृष्टि के उच्चतर स्तर से प्राप्त होने वाले प्रकाश और मार्गदर्शन की प्रतीक्षा करेगी। क्रियाशील प्रकृति जैसे-जैसे ऊपर अतिमानसिक सत्ता की ओर आरोहण करेगी और अन्दर आध्यात्मिक विशालता की ओर विस्तृत होगी, वैसे-वैसे वह भावुक और प्राणिक प्रकृति की तरह रूपान्तरित होकर अध्यात्ममय बनती जायेगी और दिव्य प्रकृति की एक शक्ति के रूप में विकसित होती जायेगी। करणों का उनकी अपनी नयी क्रिया के साथ सामञ्जस्य साधने में अनेक स्खलन, भूलें और त्रुटियाँ होंगी, पर समता को अधिकाधिक धारण करती रहने वाली अन्तरात्मा इन चीज़ों से अत्यधिक चलायमान या व्यथित नहीं होगी, क्योंकि आत्मा के अन्दर तथा मन के ऊपर अवस्थित ज्योति और शक्ति के मार्गदर्शन की ओर उन्मुक्त होकर वह दृढ़ विश्वास के साथ अपने-अपने मार्ग पर बढ़ती जायेगी और रूपान्तर की प्रक्रिया के उतार-चढ़ावों तथा उसकी पूर्ति की प्रतीक्षा उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शान्ति के साथ करेगी। *गीता* में भगवान् ने जो प्रतिज्ञा की है कि "सब धर्मो का परित्याग करके एकमात्र मेरी शरण में आ जा; मैं तुझे सब पापों और बुराइयों से मुक्त कर दूँगा; शोक मत कर", वह उसके दृढ़ निश्चय का लंगर होगी।

चिन्तनात्मक मन की समता प्रकृति के करणों की पूर्णता का एक अंग एवं अत्यावश्यक

अंग होगी। अपनी बौद्धिक अभिरुचियों, अपने निर्णयों और अपनी सम्मतियों तथा कल्पनाओं के प्रति, अपने मन की आधारभूत स्मृतिशक्ति के सीमाकारी संस्कारों, अपने यान्त्रिक मन की वर्तमान पुनरावृत्तियों, अपने व्यवहारलक्षी मन के आग्रहों और यहाँ तक कि अपने बौद्धिक सत्य-मानस की सीमाओं के प्रति हमारी वर्तमान आकर्षक एवं स्व-समर्थक आसक्ति को भी अन्य आसक्तियों की तरह समाप्त हो जाना होगा और समत्वपूर्ण अन्तर्दृष्टि की तटस्थता के आगे शीश झुकाना होगा। समत्वयुक्त चिन्तनात्मक मन ज्ञान और अज्ञान एवं सत्य और भ्रान्ति के द्वन्द्वों पर, जिन्हें हमारी चेतना के सीमित स्वभाव तथा हमारी बुद्धि के पक्षपात ने और उसके तर्कों एवं सहज बोधों की छोटी-सी पूँजी ने जन्म दिया है, दृष्टिपात करेगा और बन्धनग्रन्थी की किसी भी रज्जु से बद्ध हुए बिना उन दोनों को स्वीकार करेगा और उन दोनों से परे की ज्योतिर्मय अवस्था को प्राप्त करने के लिए प्रतीक्षा करेगा। अज्ञान के अन्दर वह एक ऐसे ज्ञान को देखेगा जो कारा में बद्ध है और मुक्त होने का यत्न कर रहा है या इसकी बाट जोह रहा है, भ्रान्ति में वह एक ऐसे सत्य को कार्य करते देखेगा जो अपने को खो बैठा है या जिसे अन्धान्वेषी मन ने भ्रामक रूपों में पटक दिया है। दूसरी ओर, वह अपने ज्ञान के द्वारा अपने-आपको आबद्ध एवं सीमित नहीं रखेगा अथवा उसके कारण नये प्रकाश की ओर बढ़ने से रुका नहीं रहेगा, किसी सत्य का पूर्ण रूप से उपयोग करते हुए भी उसे अति उग्रता के साथ पकड़ नहीं रखेगा, न उसे उसकी वर्तमान रूप-रचनाओं में क्रूरतापूर्वक जकड़ ही डालेगा। विचारात्मक मन की यह पूर्ण समता अपरिहार्य है, क्योंकि इस विकास का लक्ष्य एक ऐसे महत्तर प्रकाश को पाना है जो आध्यात्मिक ज्ञान के उच्चतर स्तर का प्रकाश है। यह समता सबसे अधिक सूक्ष्म और कठिन है, मानव मन ने इसकी प्राप्ति की साधना अत्यन्त ही कम की है; जब तक अतिमानसिक ज्योति ऊर्ध्वदर्शी मन पर पूरी तरह से नहीं पड़ती तब तक इस समता को पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता। परन्तु इसके पूर्व कि वह ज्योति मन के उपादान पर स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सके, बुद्धि में समता की स्थापना के लिए अधिकाधिक संकल्प की आवश्यकता है। इस समता का अर्थ भी बुद्धि की जिज्ञासाओं तथा उसके वैश्व उद्देश्यों का परित्याग करना नहीं है, इसका अर्थ न तो उदासीनता या तटस्थ सन्देह वृत्ति है और न ही अनिर्वचनीय की नीरवता में समस्त विचार को शान्त कर देना। जब हमारा उद्देश्य मन को उच्चतर प्रकाश और ज्ञान का एक समत्वयुक्त वाहन बनाने के लिए उसकी आंशिक क्रियाओं से उसे मुक्त करना होता है तब मानसिक विचार को शान्त करना साधना का अंग हो सकता है; पर मन के उपादान का रूपान्तर करना भी आवश्यक है; अन्यथा उच्चतर प्रकाश मन पर पूर्ण प्रभुत्व नहीं प्राप्त कर सकता और न ही वह मनुष्य में दिव्य चेतना के व्यवस्थित कार्यों को सम्पन्न करने के लिए शक्तिशाली स्वरूप धारण कर सकता है। अनिर्वचनीय ब्रह्म की नीरवता दिव्य सत्ता का एक सत्य है, पर उस नीरवता से जो 'शब्द' निःसृत होता है वह भी एक सत्य है, और इस शब्द को ही प्रकृति के सचेतन रूप में मूर्त आकार प्रदान करना है।

परन्तु, अन्ततोगत्वा, प्रकृति में समता की यह सब स्थापना इस लक्ष्य के लिए तैयारी है

कि उच्चतम आध्यात्मिक समता सम्पूर्ण सत्ता को अपने अधिकार में कर ले तथा एक ऐसा व्यापक वायुमण्डल बनाये जिसमें भगवान् की ज्योति, शक्ति एवं आनन्द मनुष्य के अन्दर अधिकाधिक बढ़ती हुई पूर्णता के साथ प्रकट हो सकें। यह समता सच्चिदानन्द की सनातन समता है। यह अनन्त सत्ता की समता है जो स्वयंसिद्ध है, यह सनातन आत्मा की समता है, पर यह मन, हृदय, संकल्प-शक्ति, प्राण और भौतिक सत्ता को अपने साँचे में ढाल देगी। यह अनन्त आध्यात्मिक चेतना की समता है जो दिव्य ज्ञान के आनन्दपूर्ण प्रवाह एवं उसकी तृप्त तरंगों को धारण करेगी तथा उनका आधार बनेगी। यह दिव्य तपस् की समता है जो समस्त प्रकृति में दिव्य संकल्प की ज्योतिर्मयी क्रिया का आरम्भ करेगी। यह दिव्य आनन्द की समता है जो दिव्य विश्वव्यापी आनन्द एवं विश्वव्यापी प्रेम की, विश्वव्यापी सौन्दर्य की असीम रसशक्ति की लीला का आधार स्थापित करेगी। अनन्त की आदर्श समत्वपूर्ण शान्ति एवं स्थिरता हमारी पूर्णताप्राप्त सत्ता का विशाल व्योम होगी, पर प्रकृति के द्वारा अनन्त की आदर्श, सम और पूर्ण क्रिया जो विश्व के सम्बन्धों पर कार्य करेगी हमारी सत्ता में उसकी शक्ति का एक प्रशान्त प्रवाह होगी। पूर्णयोग के शब्दों में समता का अर्थ यही है।

CWSA खण्ड २४, पृ. ७०२-०८ **श्रीअरविन्द**

मोद स्मिथ के साथ श्रीमाँ का पत्र-व्यवहार

(२)

१७ मई १९१० को अमरीका में जन्मीं मोद स्मिथ ने २५ मार्च १९५३ को ४२ वर्ष की उम्र में आश्रम में प्रवेश किया। पहले उन्होंने आश्रम के पुस्तकालय में काम किया, उसके बाद 'World Union' नामक त्रैमासिक पत्रिका का कार्य-भार सँभाला। १९६५ में श्रीमाँ ने उन्हें आश्रम की पुस्तकों के भण्डार का कार्य सौंपा। इसी समय वे पत्रिका की मैनेजर भी बन गयीं। मोद आश्रम में ४८ वर्ष—मृत्यु-पर्यन्त—रहीं। ३० दिसम्बर १९९१ में ८१ वर्ष की अवस्था में उन्होंने शरीर छोड़ा।

श्रीमाँ के साथ मोद का पत्र-व्यवहार १९५५ से १९७० के बीच हुआ।

कृपालु भगवती माँ,

'म' पहली तारीख़ को आये उसके पहले मुझे आपसे कुछ पूछना है। क्या मैं उसके साथ बस 'न्यू होराइज़न' के काम तक अपने-आपको सीमित रखूँ या फिर वे सब काम भी करूँ जो मैं उसके लिए किया करती थी—जैसे उसके वैयक्तिक

तथा व्यापार-सम्बन्धी पत्राचार, वह बीमार हो तो उसकी सेवा-सुश्रूषा करना?

तुम उसकी सहायता कर सकती हो क्योंकि उसे उसकी सख़्त ज़रूरत है—लेकिन इस हद तक नहीं कि अपना स्वास्थ्य ही गँवा बैठो।

एक और प्रश्न है : आश्रम के बारे में मेरे अन्दर जो विभिन्न सुझाव उठते हैं उनके बारे में क्या करूँ? जब मैं अपनी खिड़कियों की झिलमिली साफ़ करती हूँ तो मैं सोचती हूँ कि खिड़कियाँ कैसी बनायी जायें कि झिलमिलियाँ अधिक आसानी से साफ़ की जा सकें। जब मैं स्वयं चिकित्सक को 'गॉज़' (gauze) काट-काट कर छोटी पट्टियाँ बनाते देखती हूँ तो सोचती हूँ कि किस तरह बने-बनाये बड़े प्लास्टर को काट कर उसका सहायक छोटी-छोटी पट्टियाँ क्यों नहीं बना लेता ताकि चिकित्सक का समय बच जाये। जब ऐसी नौकरानियाँ पुस्तकालय में आती हैं जो यह नहीं जानतीं कि काम किस तरह करना चाहिये और क्यों करना चाहिये, तो मैं उन्हें एक छोटा-सा प्रशिक्षण देती हूँ और आशा करती हूँ कि नयी नौकरानियाँ उसमें उत्तीर्ण हों।

इस तरह के सुझाव हमेशा उपयोगी होते हैं। तुम व्यवस्थापकों को ये सुझाव दे सकती हो, उन्हें इन्हें लागू करना है या नहीं करना—यह उन्हीं पर छोड़ दो।

माँ, मैंने व्यायाम करना छोड़ दिया है क्योंकि प्रायः हमेशा मैं इतनी थकी-थकी रहती थी कि मुझे अपने-आपको कसरत करने के लिए धकेलना पड़ता था, और आपने मुझसे बहुत बार कहा है कि अपने-आपको धक्का न दूँ। क्या मैं तब तक प्रतीक्षा करूँ जब तक मेरे अन्दर पर्याप्त शान्ति और समता न आ जायें, कि मैं उग्र भावावेगों से सारे समय थकी न रहूँ, और यह मान लूँ कि जब उचित समय होगा आप मुझे दोबारा व्यायाम करने की प्रेरणा देंगी?

हाँ।

एक बार आपने कक्षा में कहा था कि हमें सचेतन रूप से यह अभीप्सा करनी चाहिये कि अपने कार्य और अन्य क्रिया-कलापों में प्रयुक्त प्रत्येक भौतिक गति हमारे शारीरिक बल और सामञ्जस्य को बढ़ाने में सहायक हो सके। क्या अभी मुझे व्यायाम की जगह इसे करने की कोशिश करनी चाहिये?

हाँ, बशर्ते कि यह एक सनक न बन जाये।

मेरे गले की भयंकर ख़राश ने अब तक मुझे परेशान कर रखा है। क्योंकि गला ठीक ही नहीं हो रहा था, मैं डॉ. 'न' के पास गयी। कई दिनों के उनके इलाज के बाद कुछ आराम मिला था, लेकिन अब फिर से वह पहले जैसा ख़राब हो गया है। मुझे पता नहीं कि क्या कोई गम्भीर चीज़ है, लेकिन अब मैं दोबारा उनके पास नहीं जा रही हूँ, आप जाने के लिए कहें तो और बात है। आख़िरकार, अगर रोग का कारण आन्तरिक असामञ्जस्य है तो फिर चिकित्सक के पास जाने का कोई तुक ही नहीं दीखता मुझे। मैं फिर से केवल आपकी ही कृपा पर भरोसा रखूँगी, और प्रार्थना करूँगी कि आपकी रोगहर तथा पावनकारी 'शक्ति' मेरा रोग दूर कर दे और उसमें अपना विश्वास जमाये रखूँगी तथा उसके प्रति उद्घाटित रहूँगी।

अगर तुम यह **सच्चे-निष्कपट रूप से** कर सको तो निश्चित ही यह तरीक़ा बेहतर है। मेरे प्रेम और आशीर्वादों के साथ।

१९ नवम्बर १९५७

कृपालु भगवती माँ,

अब मुझे यह उपलब्धि हो गयी है कि नीरवता का वास्ता आवाज़ के अभाव के साथ कतई नहीं है, लेकिन अपने आपमें नीरवता के अन्दर एक सकारात्मक गुण है जो प्रायः जीवन्त तथा स्पन्दनशील है, प्रायः दृश्य भी और सचमुच वही वस्तुओं के अन्दर के तात्त्विक स्वभाव का एक भाग होता है।

एकदम सही।

मैं जो कुछ भी देखती हूँ—बादल, पत्ते, फूल, दीवारें, कपड़े, लोग, खाना, शरीर के कोषाणु—सभी नीरव हैं, और उस नीरवता में वे अपना कार्य प्रकृति के नियम के अनुसार करते रहते हैं। उनकी क्रियाओं का प्रभाव—पत्तों की चरमराहट, लोहे पर हथौड़े का प्रहार—इस नीरवता से एकदम अलग है और जो स्वयं इन चीज़ों की अपनी प्रकृति ही है।

कभी-कभी मुझे लगता है कि इस नीरव जगत् में मैं अकेली हूँ। कुछ समय के लिए मुझे महसूस हुआ था कि कुछ चीज़ों में, विशेषकर पेड़ों में, नीरवता का एक तीव्र आनन्द था और मैं भी उस आनन्द को अनुभव कर पा रही थी।

माँ, हे माँ, मैं अपने अन्दर की निश्चल-नीरवता के प्रति सचेतन बनना चाहती हूँ, और अगर वह मेरे लिए उतनी ही सत्य बन जाये माँ, जितनी प्रत्यक्ष मैं अपने लिए हूँ।

अच्छी बात है।

बहुत समय पहले, जब मैं आपको अपने अन्दर खोजने की कोशिश कर रही थी, ऐसा लगता है कि आपने कहा था कि अगर आन्तरिक पथ बन्द हो जाये तो मैं कुछ समय के लिए बाहरी पथ पर चल सकती हूँ—स्वयं को सौन्दर्य और आश्चर्य, ख़ुशी और अट्टहास की ओर ठीक वैसे ही खोलना जैसे मैं बचपन में किया करती थी। लेकिन मैं ऐसा करने में सक्षम न थी या मैं चाहती ही नहीं थी, और मैं रोती रही, और ताला जड़े अन्दर के दरवाज़े को पीटती रही, मैंने अपने आस-पास की उन सभी चीज़ों की ओर से अपनी आँखें और अपना हृदय बन्द कर लिया था जिनसे मुझे हमेशा से प्यार था।

लेकिन माँ, मेरी सारी खिड़कियाँ बाहर की तरफ़ खुलती हैं, और भगवान् तो सार्वभौम तथा सर्वव्यापी हैं। निश्चित रूप से अगर मैं उन चीज़ों के प्रति उद्घाटित और संवेदनशील हो जाऊँ जिन्हें आप मुझे एक नये प्रकाश में दिखा रही हैं, हर्ष के साथ अथवा एक छोटे बच्चे की तरह बड़ी-बड़ी आँखें करके, लेकिन शान्ति के साथ मैं उन चीज़ों को प्रत्युत्तर दे सकूँ जिन्हें मैं बड़ी सावधानी से देख रही हूँ, तब न केवल मैं आपको उन सब चीज़ों में खोज लूँगी बल्कि उचित समय पर और उचित पथ पर आगे बढ़ते-बढ़ते मेरे आन्तरिक द्वार भी खुल जायेंगे।

एकदम सच है।

सब कुछ आपके शुभ हाथों में है। मैं पूरी तरह से स्वयं को आपको सौंपती हूँ।

मेरी प्यारी बच्ची,

तुम्हारी अनुभूतियाँ अत्युत्तम हैं और तुम एकदम सही पथ पर हो। सारे संसार के प्रति अपनी आँखें और अपना हृदय खोल दो और तुम निश्चित हो सकती हो कि एक दिन तुम वहाँ भगवान् से ज़रूर मिलोगी।

प्रेम तथा आशीर्वादों के साथ।

१८ जनवरी १९६०

दयालु भगवती माँ, दीप्तियों की माँ,

क्या यह सम्भव है कि अपने किसी पिछले जनम में मैंने आपको पा लिया था —अपने 'स्व' को पा लिया था, मुक्त आत्मा बन गयी थी? बहुत पहले जब मेरे साथ अपने एक साक्षात्कार में आपने कहा था कि चैत्य सत्ता के साथ एक सम्पर्क

होता है जिसे मेरा मन मानने से इनकार करता है, और यह भी कहा था कि मेरे मन ने पहले से ही समर्पण कर दिया है और मेरा हृदय ख़ुशी से भरा हुआ और हर्षोन्मत्त है? शायद इसीलिए यह जीवन मुझे इतना अधिक जीना पड़ रहा है जब तक कि मुझे वह सब "याद" न आ जाये?

मेरी प्यारी बच्ची,

हाँ, तुम एक सचेतन और जीवन्त अन्तरात्मा हो और 'भागवत कार्य' करने के लिए धरा पर फिर से आयी हो।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

३ मार्च १९६१

माँ,

यह है मेरी भेंट—कार्डों पर छोटी-मोटी चित्रकारी। ये पहले के चित्रों की तरह ख़ुशनुमा नहीं हैं, लेकिन इस बार ये इस तरह से आये। क्या ये बहुत ही सादे हैं? क्या आप इस चित्र को किसी विशेष स्थान पर रखना चाहेंगी, उदाहरण के लिए, बायीं तरफ़। क्या इनका आकार उपयुक्त है? कृपया मुझे ऐसा कोई भी उपाय बतलाइये ताकि मैं इन्हें ज़्यादा उपयोगी बना सकूँ।

ये सभी **बहुत ही सुन्दर** और उपयोगी हैं। विविधता अच्छी चीज़ है, मैं किसी भी बँधे-बँधाये नियम के पक्ष में नहीं हूँ—और ये जैसे हैं, ख़ुशी का स्पर्श लाते हैं। इनका उपयोग करने में मुझे प्रसन्नता होगी।

प्रेम तथा आशीर्वादों के साथ।

२३ सितम्बर १९६२

माँ,

मैं रात को हमेशा सो पाती थी, सिर तकिये पर रखते ही मैं निद्रालोक में पहुँच जाती थी। लेकिन अब कभी-कभी सो सकने से पहले मैं दो-तीन घण्टों तक जगी पड़ी रहती हूँ। मुझे पता नहीं क्यों।

अचञ्चलता के इस समय का कैसे उपयोग किया जाये? मैंने बहुतेरी चीज़ें करने की कोशिश की—'आपको', 'आपकी शक्ति' को, शान्ति को पुकारने की, अन्दर जाने की, ऊपर जाकर आपके पास बैठने की, अन्दर बस अचञ्चल रहने की कोशिश की। लेकिन मैं कुछ भी क्यों न करूँ, कोई परिणाम ही नहीं निकलता, बस आती है तो विचारों की एक ऐसी शृंखला जो बहुधा अवसादमयी होती है।

क्या किया जाये?

इनमें से कोई भी उपाय अपना लो (वह जो तुम्हारे लिए सबसे आसान और सहज हो) लेकिन उस पर **लगन के साथ** लगी रहो, भले तुम्हें कोई तात्कालिक परिणाम न भी मिले, **रात-पर-रात** डटी रहो—किसी रात या तो तुम्हें कोई अनुभूति होगी या फिर तुम तुरन्त सो जाओगी (दोनों चीज़ें अच्छी हैं)।

प्रगतिशील नूतन वर्ष के लिए मेरे प्रेम तथा आशीर्वाद सहित।

२४ दिसम्बर १९६२

कृपालु भगवती माँ,

मेरी सत्ता की प्रत्येक चीज़ स्वयं को आपको दे देना चाहती है। कोई उपाय, कोई मदद क्यों नहीं है भला? किसी अनिश्चित-धुँधले भविष्य में होने की बजाय यह अभी क्यों नहीं हो जाता! कई बार मैंने आपसे—साक्षात्कार में, लिख कर और प्रार्थना करके यह बात पूछी कि अभी क्यों नहीं, लेकिन आपने कभी इस क्यों? का उत्तर ही नहीं दिया। मैं "अल्प काम में महान् परिणामों की अपेक्षा नहीं कर रही", मैं बस कम-से-कम अत्यावश्यक चीज़ों की माँग कर रही हूँ—और अब तो यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह अल्प समय है; क्योंकि दस साल बीत चुके हैं!

मैं कोई कारण नहीं देखती कि यह **अभी, तुरन्त** क्यों नहीं हो सकता। तुम जितना सोचती हो हो सकता है कि तुम उपलब्धि के उससे कहीं अधिक निकट हो।

प्रेम और आशीर्वादों के साथ।

११ जनवरी १९६३

माँ,

जारी कैसे रखूँ मैं? पुराने जगत् में मैं जी नहीं सकती—सारे समय यह अधिकाधिक मुश्किल होता जा रहा है—और अभी तक नये जगत् में जीने का मेरे पास कोई उपाय नहीं है।

कभी-कभी अचञ्चलता छा जाती है और मैं प्रसन्नतापूर्वक काम कर सकती हूँ, लेकिन फिर लगातार आपको टेर लगाते रहने में अपराध-बोध का-सा अनुभव करती हूँ, फिर मैं सोचती हूँ कि यह सब करने की बजाय बस आप पर पूरा विश्वास बनाये रखूँ। एक बार मैंने महीनों तक इसे करने की भी कोशिश की कि सब कुछ आप पर छोड़ कर आपको ही करने दूँ। और फिर मैं निष्ठा, नमनीयता, समर्पण तथा आत्म-समर्पण की महत्ता के बारे में आपके सन्देशों को हमेशा याद

करती हूँ। मैं उन क्षणों को जीती हूँ जब हमने "बिल्ली के बच्चे" के मनोभाव के बारे में बातचीत की थी और मैंने आपसे पूछा था, "तब तो मुझे साधना करने की एकदम से कोई आवश्यकता ही नहीं है?" और आपने उत्तर दिया था, "वही करो जिसकी तुम्हारा हृदय माँग करता हो।" आह! माँ, बस वही—बस वही है जो मैं नहीं कर पा रही हूँ और जो करना कितना, कितना ज़रूरी है।

मेरी सभी मनोवृत्तियाँ ग़लत हैं। लगता है कि मैं उस 'प्रकाश' और 'शक्ति' के प्रति बन्द हूँ जो धरती पर धारासार बरस रहे हैं, अपने चारों ओर फैले 'प्रेम' के और 'आनन्द' के जगत् के प्रति एकदम से बन्द हूँ—और मैं ऐसा कोई उपाय नहीं देख पा रही कि चीज़ों को बदलना शुरू कर सकूँ।

माँ, कैसा खेल है यह जहाँ कभी कोई हल नहीं मिलता, जहाँ मैं जो करूँ वह ग़लत होता है, और कुछ न करना भी ग़लत है, यहाँ तक कि समर्पण का भी कोई पथ नहीं सूझता!

हाँ, अगर तुम बस सरल और सहज बनी रह सको, सारे समय **अपनी ओर** नज़र न रखो, और अपने बारे में नुकता चीनी न करती रहो, जो तुम करती हो उसके बारे में अपनी आलोचना करने में ही न लगी रहो तो अच्छा होगा—नुकता चीनी और आलोचना भगवान् पर छोड़ दो—यह **तुम्हारा** मामला नहीं है।

तुम जितना सोचती हो उससे कहीं ज़्यादा निकट हो—यह व्यक्तिगत प्रयास के बिना बस एक **व्यक्तिगत** दरवाज़ा तोड़ कर खोलने की बात है।

प्रेम तथा आशीर्वादों के साथ।

१५ मार्च १९६३

दयालु भगवती माँ,

अभीप्सा करते समय यह कैसी भूख है जिसे मैं इतना महसूस करती हूँ? बहुत पहले जब आपके साथ साक्षात्कार में मैंने इस बारे में आपसे कहा था (हालाँकि उस समय मेरे ख़याल से मैंने, घर की बहुत याद आ रही है, कह कर इस चीज़ का वर्णन किया था), तब आपने मानों घृणा और अधैर्य के साथ मुँह फेर लिया था।

मैं इस बारे में बिलकुल सचेत नहीं हूँ कि मैंने तुम्हारी किसी भी बात पर कभी घृणा या अधैर्य महसूस किया हो।

अत:, उसकी वजह से, और इस कारण कि साल दर साल यह भूख कभी मिटी नहीं, मुझे लगा कि ज़रूर यह कोई ग़लत गति होगी, कोई प्राणिक कामना या माँग

या फिर अधैर्य, तो मैंने उसके विरुद्ध लड़ाई लड़ी, उसे शान्त करने की, समर्पण करने की, भूल जाने की कोशिश की। और चूँकि मैं कभी यह कर न सकी, बस उससे भयंकर यातना और कष्ट ही पा रही थी, मैंने उससे, अपने-आपसे तथा साधना से घृणा करनी शुरू कर दी।

अभी हाल ही में, मुझे लगा कि शायद यह भूख अभीप्सा है, मैं स्वयं अभीप्सा करूँ इसके बदले अभीप्सा मेरे अन्दर की जा रही है।

निश्चय ही, भूख अभीप्सा ही है; महत्त्वपूर्ण चीज़ बस यह जानना है कि भूख का विषय क्या है। अगर यह **भगवान् के लिए भूख** है तो एकदम उचित है। उसी तरह, अगर यह घर की याद आने की भावना है तो सब कुछ इस पर निर्भर करता है कि कौन-सा वह **घर** है जिसकी तुम्हें इतनी याद आ रही है—अगर यह तुम्हारे **भागवत उत्स** वाले घर की बात है, तो तुम्हारी चेतना के वहाँ जल्दी पहुँचने के लिए निस्सन्देह यह बहुत अच्छी सहायता है।

माँ, क्या यह सच है? अगर है तब तो मुझे अपनी सारी मनोवृत्ति को बदलना होगा; इस भूख से संत्रस्त होने और इससे दूर भागने की जगह मुझे इसका स्वागत करना सीखना होगा, और अब चुपचाप तथा विश्वास के साथ इसे मुझे अपने अन्दर काम करने देना चाहिये।

जब मैंने तुमसे अधिक सहज होने के लिए कहा था तो मेरा मतलब इसी बात से नहीं था क्या?

मेरे समस्त प्रेम तथा आशीर्वादों के साथ।

५ मई १९६३

माँ,

कुछ महीने पहले मैंने 'म' की 'वर्ल्ड यूनियन' पत्रिका के प्रूफ़ जाँचने में उसकी मदद करनी शुरू की थी। मैंने यह काम जारी रखा, मैं इसके लिए स्वयं को ज़िम्मेवार महसूस कर रही थी, विशेषकर प्रेस भेजने से पहले पाण्डुलिपियों की अच्छी तरह जाँच इत्यादि कर लेना। मुझे यह पसन्द है, लेकिन इसमें बहुत समय लगता है और प्रायः हमेशा काम को ताबड़तोड़ जल्दी में करना पड़ता है।

मैं सन्देह करने लगी हूँ कि क्या मुझे यह कार्य जारी रखना चाहिये। मैं चित्रकारी करना ज़्यादा पसन्द करूँगी, लेकिन काफ़ी समय से चित्रकारी के प्रति भी झुकाव कुछ कम-सा हो गया है। शायद मेरे अन्दर यह प्रबल भाव है कि चित्रकारी करना एक खेल है, और खेलना तभी चाहिये जब काम ख़तम हो जाये—और मेरा काम तो कभी ख़तम होता ही नहीं!

क्या करना चाहिये मुझे?

कभी अपने-आपको थकाओ मत और कभी जल्दबाज़ी मत करो। शान्ति के अचञ्चल प्रवाह में, **बिना** किसी तनाव या दबाव के, बस उतना ही करो जितना तुम्हारे पास समय है और जितना तुम आराम से कर सको।

समस्त कर्म को खेल होना चाहिये, लेकिन एक 'भागवत खेल' जिसे 'भगवान्' के लिए, 'भगवान्' के साथ खेला जाये।

प्रेम।

२२ जून १९६३

श्रीमाँ को—मेरे समस्त प्रेम के साथ एक भेंट, काश! मैं आशा करती हूँ कि यह हज़ारों गुना अधिक होती।

वर दीजिये कि मैं पूरी तरह से 'आपकी' होऊँ और केवल 'आपकी'।

तुम्हारा हृदय हज़ारों गुना अधिक मूल्यवान् है और मैं इसे **अमूल्य धरोहर** के रूप में अपने हृदय में सँजोये रखती हूँ।

मेरे समस्त प्रेम तथा आशीर्वादों के साथ।

३० अक्तूबर १९६३

कृपालु माँ,

आजकल प्रायः पुस्तकों तथा पत्रिकाओं में मैं ऐसी चेतना के चिह्न देखती हूँ जो दस बरस पहले विरले ही दिखा करते थे—नये बिम्ब, चीज़ों को देखने के नवीन तरीक़े, एक नूतन दृष्टिकोण, सम्बन्धों के बारे में नया भाव, एकता तथा सामञ्जस्य, एक नूतन दिशा।

प्रायः तुरन्त ही मैं सोचती हूँ: "वर्ल्ड यूनियन पत्रिका के लिए यह अच्छा होगा।" या "मैं कितना चाहती हूँ कि हर एक यह पढ़ सके" या इसी तरह का कोई उपयोगी विचार फूटता है।

पिछले कुछ दिनों से मैं यह अनुभव कर रही हूँ कि इस तरह की सोच मेरी ग्रहणशीलता के सम्मुख एक दरवाज़ा बन्द कर देती है और इन सन्देशों तथा लेखों की जिस शक्ति को मैं आत्मसात् कर रही थी उस पर रोक लगा देती है। यहाँ तक कि उन चीज़ों को दोबारा लिखना या उनके बारे में कुछ छोटी-मोटी टिप्पणियाँ लिखना भी मेरे 'मूड' को बदल देता है; यह अब एक शुद्ध आनन्द नहीं रह गया, बल्कि ऐसी चीज़ बन गया है जो मैं करना चाहती हूँ या जिसे मुझे करना चाहिये।

माँ, क्या यह ज़्यादा अच्छा न होगा कि मैं इन चीज़ों में मज़ा लूँ, अपने अन्दर इन्हें पी लूँ, खुल जाऊँ और अपने अन्दर इन चीज़ों को रखने के लिए जगह बना लूँ—ताकि शायद आज जो मैं आत्मसात् करूँगी वह एक दिन मेरे अन्दर से उसी तरह बाहर प्रवाहित होगा जैसे फूल से ख़ुशबू बाहर फैलती है?

हाँ, मेरी प्यारी बच्ची,

तुमने ठीक चीज़ पकड़ी। अपनी अनुभूति को व्यवहार में लाने के लिए तुम उस शुद्ध ऊँचाई से नीचे उतर आती हो। "उपयोगी" होने के लिए तुम किसी मानसिक स्तर पर उतर आती हो, और चूँकि मन अभी तक बहुत सारी चीज़ों का घपला है, अनुभूति की पवित्रता चली जाती है।

"उपयोगिता" अपने समय पर आये—बाद में।

प्रेम के साथ, बहुत प्रेम तथा आशीर्वादों के साथ।

१६ दिसम्बर १९६३

श्रीमाँ

संवेदनशीलता

तुम्हें अपनी संवेदनशीलता से बचना नहीं है बल्कि इस तरह के मोहभंगों को कूदने का एक तख़्ता बना कर उच्चतर चेतना में ऊपर उठने की शक्ति प्राप्त करनी है। एक तरीक़ा यह है कि दूसरों से—वे दूसरे चाहे कोई भी क्यों न हों—एकदम से खरे व्यवहार की आशा न की जाये। और इसके अतिरिक्त, यह अच्छा है कि कुछ लोगों के सच्चे स्वभाव के बारे में ऐसे अनुभव हो जायें जिनके प्रति उदार प्रकृति का व्यक्ति प्रायः अन्धा होता है; क्योंकि इससे उसे अपनी चेतना के विकास में सहायता मिलती है। जिस प्रहार से तुम इतना हिचकिचाते हो वह तुम्हें इतना कठोर इस कारण प्रतीत होता है कि वह एक ऐसा आघात है जो तुम्हारी मानसिक रचना के जगत् को पहुँचा है। इस तरह का जगत् बहुधा हमारी सत्ता का एक अंग बन जाता है। परिणाम यह होता है कि उस जगत् पर किया गया आघात लगभग शारीरिक पीड़ा प्रदान करता है। इसकी एक बड़ी क्षतिपूर्ति यह है कि वह तुम्हें अपने कल्पना-जगत् के विपरीत—कल्पना का वह जगत् ऐसा होता है जैसा कि तुम चाहते हो कि सच्चे जगत् को होना चाहिये—अधिकाधिक सच्चे जगत् में रहने के लिए प्रवृत्त करता है। लेकिन तुम जानते ही हो, सच्चा जगत् ही वह सब कुछ नहीं है जिसकी कामना की जाये, इसी कारण इस पर 'भागवत चेतना' की क्रिया होनी चाहिये और इसे रूपान्तरित होना चाहिये। लेकिन इसके लिए प्रायः सबसे पहली आवश्यक वस्तु है सद्वस्तु का ज्ञान पाना—यह चाहे जितना भी अरुचिकर क्यों न हो। बहुत बार यह ज्ञान हमारे पास उत्तम रूप में आता है प्रहारों और घावों के द्वारा। सच्चे, आदर्शवादी

व्यक्ति, संवेदनशील व्यक्ति, सुसंस्कृत स्वभाववाले लोग ऐसे मोह-भंगों से मोटी चमड़ीवाले लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक तीव्र वेदना पाते हैं, लेकिन यह कोई कारण नहीं कि सूक्ष्म भावनाओं की निन्दा की जाये और सूक्ष्म संवेदनशीलता की तेज़ धार कुण्ठित कर दी जाये। मुख्य चीज़ यह है कि हम ऐसे किसी भी अनुभव से अपने-आपको पृथक् करना सीख लें और दूसरों की ऐसी विकृतियों को एक ऐसे उच्चतर स्तर से देखना सीख लें जहाँ से हम इन अभिव्यक्तियों को उनके उचित परिप्रेक्ष्य—निर्वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य—में देख सकें। तब हमारी कठिनाइयाँ वास्तव में और अक्षरशः सुअवसर बन जाती हैं। क्योंकि ज्ञान जब हमारी कठिनाइयों की जड़ तक पहुँच जाता है, तब वह स्वयं मानों एक अद्‌भुत रोग-निवारक शक्ति बन जाता है। जैसे ही तुम कठिनाई के मर्मस्थल को छूते हो, जैसे ही तुम, अधिकाधिक गहराई में डुबकी लगाते हुए, उस चीज़ तक पहुँच जाते हो जो सचमुच तुम्हें पीड़ा पहुँचाती है तो मानों चमत्कार की तरह पीड़ा ग़ायब हो जाती है। अतः, सच्चे 'ज्ञान' तक पहुँचने का अटूट साहस योग का मुख्य सारतत्त्व है। सच्चे 'ज्ञान' के ठोस आधार के बिना किसी भी स्थायी इमारत को खड़ा नहीं किया जा सकता। पैरों को पहले अपनी आधार-भूमि के बारे में निश्चित होना चाहिये उसके बाद ही मस्तक आकाश को चूमने की आशा कर सकता है।

CWSA खण्ड ३१, पृ. २१२-१३ **श्रीअरविन्द**

सुरक्षा और संरक्षण

बमबारी के समय, उन लोगों से जो अपनी चमड़ी के लिए डर कर भाग निकलते हैं :

तुम ही सकुशल क्यों रहो, जब सारा संसार संकट में है? तुम्हारा विशेष पुण्य, तुम्हारा विशेष गुण क्या है जिसके लिए तुम्हें विशेष रूप से संरक्षण दिया जाये?

भगवान् के अन्दर ही संरक्षण है, उन्हीं की शरण लो और समस्त भय को दूर फेंक दो।

२६ मई १९४२

*

(उन लोगों के सम्बन्ध में जिन्होंने सितम्बर १९६५ के भारत-पाक युद्ध के समय पॉण्डिचेरी आने की स्वीकृति माँगी थी।)

वे पॉण्डिचेरी आ सकते हैं लेकिन, जो डरते हैं वे सब जगह डरते हैं और जिसमें श्रद्धा है वह हर जगह सुरक्षित है।

९ सितम्बर १९६५

*

सर्वोत्तम सुरक्षा है भागवत कृपा में अचल श्रद्धा।

*

संरक्षण सक्रिय है और वह तभी प्रभावकारी हो सकता है जब तुम्हारी ओर से स्थायी और सम्पूर्ण *श्रद्धा* हो।

*

आओ, हम अपने-आपको पूरी तरह और सच्चाई के साथ भगवान् को दे दें, तब हम उनका भरपूर संरक्षण पायेंगे।

*

जो कुछ भगवान् को दिया गया है उसके सिवा कुछ भी सुरक्षित नहीं है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. ५०-५२

आन्तरिक समर्पण

कभी भी यह सुझाव देने का मेरा कतई आशय नहीं था कि तुम्हारे अन्दर साधना की मन्द आशा है और वह भी तुम्हारे समर्पण के **यदि** पर निर्भर करती है (यदि समर्पण हुआ)। मैंने हमेशा इसके विपरीत ही कहा है, कि चूँकि तुम्हारी अन्तरात्मा भगवान् को सचमुच पाना चाहती है, तुम अवश्य ही उन तक पहुँच जाओगे; हाँ, अगर तुम प्रयास छोड़ दो तो और बात है—इसी कारण से मैं तुम्हारी इन निराशाओं का बहुत ज़ोर से विरोध करता हूँ और इनसे जो दुःख तुम भोगते हो उसके बारे में क्या कहा जाये, और विरोध मैं इसलिए करता हूँ कि ये तुम्हें दुःख की ओर खदड़ने की कोशिश करती हैं और तब तुम पराजय की ओर झुक जाते हो और अपने लक्ष्य को सुदूर धकेल देते हो।

जो मैंने लिखा वह उसके उत्तर में था जो तुम पहले योग के बारे में सोचते थे कि अगर व्यक्ति भगवान् को चाहे तो भगवान् स्वयं उसके हृदय को शुद्ध करने, उसकी साधना को आगे बढ़ाने और उसे आवश्यक अनुभूतियाँ प्रदान करने का काम अपने हाथ में ले लेंगे। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि अगर व्यक्ति के अन्दर श्रद्धा-विश्वास हो और हो समर्पण करने की इच्छा तो ऐसा हो सकता और होता है। क्योंकि इस तरह भगवान् द्वारा ले लिये जाने पर तुम्हें, अपने ही प्रयासों पर विश्वास करने की जगह, स्वयं को पूरी तरह प्रभु के हाथों सौंप देना होगा; इसका अर्थ है कि उन प्रभु पर श्रद्धा-विश्वास दृढ़ता से जमाये रखना और क्रमशः आत्म-समर्पण करते रहना होगा। वस्तुतः यही साधना का मूलभूत तथ्य है और स्वयं मैंने भी इसी का अनुसरण किया है और मेरे योग की धुरी यही है। मेरे ख़याल से, रामकृष्ण बिलौटे के रूपक में इसी प्रक्रिया की बात कर रहे हैं। लेकिन सभी तत्काल इसका अनुसरण नहीं कर सकते; इस तक पहुँचने में उनको समय लगता है—जब मन और प्राण शान्त हो जाते हैं तभी इसे सबसे अधिक आसानी से किया जा सकता है।

समर्पण से मेरा मतलब मन तथा प्राण के इस आन्तरिक समर्पण से था। निस्सन्देह, बाहरी समर्पण भी होता है, उस सबका त्याग जो तुम्हारी सच्ची भावना, साधना की आवश्यकता से संघर्षरत हो, जो न अर्पण करना चाहे, न भगवान् के पथ-प्रदर्शन में चलना ही चाहे—चाहे यह प्रत्यक्ष रूप में हो या परोक्ष रूप में—व्यक्ति इस अवस्था तक चैत्य अथवा गुरु के पथ-प्रदर्शन द्वारा पहुँच सकता है। मैं कह सकता हूँ कि प्रायोपवेशण (निरन्तर उपवास करना) का समर्पण से कोई सम्बन्ध नहीं है; यह बहुत ही कठोर और मेरे हिसाब से एकदम उत्कट प्रकार की, बहुधा ख़तरनाक तपस्या होती है। लेकिन अपने पत्र में मैं जिसका उल्लेख कर रहा था वह आन्तरिक समर्पण है।

इस आन्तरिक समर्पण की चाबी है, भगवान् में श्रद्धा और विश्वास। व्यक्ति यह मनोभाव अपना लेता है, "मैं भगवान् को, भगवान् के सिवाय और कुछ नहीं चाहता।" मुझे मालूम नहीं कि तुम भला यह क्यों सोचते हो कि तुम्हें इस मनोभाव को त्याग देने को कहा जा सकता है—अगर यह भाव न रहे तो योग ही नहीं किया जा सकता। "मैं अपने-आपको पूरी तरह से 'उन्हें' दे देना चाहता हूँ और चूँकि मेरी अन्तरात्मा यही चाहती है इसलिए इसके सिवाय और कुछ हो ही नहीं सकता कि मैं उन्हें पाकर, उनका साक्षात्कार करके ही रहूँगा। मैं इसके सिवाय और कुछ नहीं चाहता, बस यही माँगता हूँ कि वे मुझे अपने पास खींच लें—चाहे गुप्त रूप से, चाहे प्रत्यक्ष रूप में, प्रकट या अप्रकट होकर। मैं अपने समय और अपने तरीक़े पर ज़ोर नहीं दे रहा; वे अपना समय लें, अपना तरीक़ा अपनाएँ, मैं उन पर विश्वास करता हूँ, उनकी इच्छा मेरे सिर-आँखों पर, मैं उनके प्रकाश, उनकी उपस्थिति और उनके दिये हर्ष के लिए सतत अभीप्सारत रहता हूँ, मैं सभी बाधाओं के पार निकलूँगा, कभी हिम्मत न हारूँगा, न ही रास्ते में देर लगाऊँगा। प्रभो! वर दे कि मेरा मन शान्त बना रहे, केवल उनकी ओर मुड़ा रहे और वे अपनी अचञ्चलता और आनन्द में मेरे हृदय को खोल दें; वर दे कि मेरा प्राण शान्त बना रहे, केवल उनकी ओर मुड़ा रहे और वे अपनी अचञ्चलता और अपने आनन्द में मेरे प्राण को खोल दें। सब कुछ उन्हीं के लिए हो, मैं स्वयं पूरी तरह उनका हो जाऊँ। चाहे कुछ भी हो, मैं अपनी इसी अभीप्सा और आत्म-समर्पण से चिपका रहूँगा और इस पूर्ण विश्वास के साथ पथ पर बढ़ता रहूँगा कि ऐसा होकर रहेगा।" इसी मनोभाव में व्यक्ति को विकसित होते रहना चाहिये; क्योंकि, निश्चित रूप से, एक ही बार में इसे पूरी तरह से नहीं पाया जा सकता; मानसिक तथा प्राणिक गतियाँ हमेशा आड़े आती हैं; लेकिन अगर तुम इसे करने की ठान लो, तो धीरे-धीरे यह तुम्हारे स्वभाव में घर कर लेगा। बाक़ी सब कुछ इस पर निर्भर करता है कि जब वह पथ-प्रदर्शक तुम्हें रास्ता दिखाने के लिए तुम्हारा हाथ थाम ले तो तुम मानसिक तथा प्राणिक गतियों के हस्तक्षेप के बिना उसकी आज्ञा का पालन करने के लिए तत्पर रहो।

मेरे कहने का यह आशय न था कि यही एकमात्र पथ है और यह कि साधना और किसी भी तरीक़े से नहीं की जा सकती—कितने ही ऐसे तरीक़े हैं जिनसे होकर भगवान् तक पहुँचा जा सकता है। लेकिन मेरी जानकारी में केवल यही एकमात्र पथ है जिसमें स्वभाव की तैयारी

के पहले का यह कथन कि भगवान् साधना को अपने हाथ में ले लेते हैं, एक युक्तियुक्त तथ्य बन जाता है। दूसरे तरीक़ों में भागवत क्रिया और सहायता का समय-समय पर अनुभव किया जा सकता है, लेकिन वे अधिकतर परदे के पीछे ही रहती हैं जब तक कि तपस्या के द्वारा सब कुछ सम्पन्न नहीं हो जाता। अधिकतर लोगों में दोनों का मिश्रण होता है, और अन्ततः तपस्या प्रत्यक्ष सहायता तथा हस्तक्षेप के लिए आवाहन करती है। भगवान् ही सब कुछ कर रहे हैं यह विचार तथा यह अनुभव उन योगों का आधार है जो समर्पण का पथ सुझाते हैं।

लेकिन चाहे कोई भी रास्ता क्यों न अपनाया जाये, एकमात्र चीज़ है, सच्चे बने रहना और अन्त तक जाना। तुमने कितनी बार यह निर्णय लिया है—उससे लगे रहो, प्राण के तूफ़ानों को अपनी अन्तरात्मा की अभीप्सा को दबाने मत दो।

CWSA खण्ड २९, पृ. ६९-७१ **श्रीअरविन्द**

९ मई १९५६ का वार्तालाप

मधुर माँ, हमारा सच्चा आध्यात्मिक जीवन कहाँ से आरम्भ होता है?

सच्चा आध्यात्मिक जीवन तब आरम्भ होता है जब मनुष्य को अपने चैत्य पुरुष के अन्दर भगवान् के साथ सम्पर्क प्राप्त हो जाता है, जब मनुष्य चैत्य के अन्दर भागवत उपस्थिति के विषय में सचेतन हो जाता तथा चैत्य के साथ सतत सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। तब आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ होता है, उससे पहले नहीं। *सच्चा* आध्यात्मिक जीवन।

जब मनुष्य अपने चैत्य पुरुष के साथ युक्त हो जाता है और दिव्य उपस्थिति के बारे में सचेतन हो जाता है, और दिव्य 'उपस्थिति' से ही अपने कर्मों की अन्तःप्रेरणा प्राप्त करने लगता है, और जब उसकी संकल्प-शक्ति भागवत 'संकल्प-शक्ति' की सचेतन सहयोगिनी बन जाती है—यही है प्रारम्भ-बिन्दु।

उससे पूर्व, मनुष्य आध्यात्मिक जीवन का एक अभीप्सु हो सकता है, परन्तु उसे सच्चा आध्यात्मिक जीवन नहीं प्राप्त होता।

मधुर माँ, मैं एक वाक्य की व्याख्या सुनना चाहता हूँ। श्रीअरविन्द ने कहीं पर कहा है: "भौतिक रूप में तुम कुछ नहीं हो, आध्यात्मिक रूप में तुम सब कुछ हो।"

इसका अर्थ यह है कि वास्तव में विराट् 'आत्मा', आध्यात्मिक चेतना और भागवत 'उपस्थिति' ही वे चीज़ें हैं जो जीवन को उसका समस्त मूल्य प्रदान करती हैं और इस आध्यात्मिक चेतना तथा भागवत 'उपस्थिति' के बिना जीवन का कोई मूल्य नहीं है।

यही बात व्यक्ति के लिए भी सत्य होती है, उसकी भौतिक क्षमताएँ चाहे जो भी हों और चाहे जिन भौतिक अवस्थाओं में वह रहता हो, उसका एकमात्र मूल्य उसमें विद्यमान दिव्य उपस्थिति और आध्यात्मिक चेतना के कारण होता है।

अतएव सच्ची वास्तविकता की दृष्टि से, जिस मनुष्य के पास कोई भौतिक सम्पत्ति अथवा क्षमताएँ या असाधारण सम्भावनाएँ नहीं हैं, पर जो अपने चैत्य पुरुष के बारे में सचेतन तथा अपने अन्दर विद्यमान भगवान् के साथ युक्त है, वह पृथ्वी के किसी राजा से अथवा किसी करोड़पति से अनन्तगुना महान् है जिसके पास प्रचुर भौतिक शक्ति तो हो पर जो अपने चैत्य पुरुष से अचेतन हो।

सत्य के दृष्टिकोण से बात ऐसी ही है। बस, यही श्रीअरविन्द का मतलब है : किसी भी प्रतीयमान और बाहरी वस्तु का कोई वास्तविक मूल्य नहीं है। एकमात्र वस्तु जो मूल्यवान् है वह है दिव्य चेतना तथा परमात्मा के साथ एकत्व।

माँ! आपने पिछली बार जो कुछ कहा था उसके अनुसार उन लोगों का प्रश्न फिर भी रह ही जाता है जो नयी 'शक्ति' के प्रति ज्ञानपूर्वक उद्घाटित नहीं हैं। तब वे भला किस प्रकार प्रभावित होंगे? क्या वे अतिमानसिक नहीं वरन् आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा प्रभावित होंगे?

क्या, क्या, क्या?

तुम आध्यात्मिक और अतिमानसिक शक्ति के बीच कौन-सा भेद करते हो?

परन्तु आपने कहा है कि जिन लोगों ने कुछ नहीं किया है अथवा अपने-आपको नहीं दिया है वे कैसे इस 'शक्ति' से प्रभावित होने या लाभ उठाने की आशा करेंगे? जो लोग यहाँ हैं पर सचेतन रूप से खुले हुए नहीं हैं, क्या वे भी प्रभावित होंगे?

प्रभावित, हाँ।

क्या उन्हें भी सहायता मिलेगी?

पर यदि वे सहायता पाने की परवाह न करें! क्या तब भी तुम उनकी सहायता करना चाहते हो?

यदि कोई अभीप्सा करता है, सहायता चाहता है, यदि उद्घाटन बहुत मामूली भी हो, फिर भी आवश्यक रूप से उसमें कुछ उद्घाटन होता ही है। परन्तु कोई यदि सहायता न चाहे... अथवा मैं यहाँ तक कह सकती हूँ कि ऐसे लोग भी होते हैं जो निश्चित रूप में यह समझते हैं कि उन्हें सहायता की कोई आवश्यकता नहीं है, वे अनुभव करते हैं कि वे स्वयं अपनी

सहायता बहुत अच्छी तरह कर सकते हैं और दूसरों की सहायता की उन्हें कोई ज़रूरत नहीं, और अनुभव करते हैं कि वास्तव में वे स्वयं ही कार्य करते हैं, स्वयं ही प्रगति करते हैं, स्वयं ही सब कुछ करते हैं। अतएव वे कोई सहायता नहीं चाहते, वे उसकी कोई ज़रूरत नहीं महसूस करते। जब वे इसकी कोई परवाह नहीं करते तब तुम उन्हें सहायता क्यों पहुँचाना चाहते हो?

परन्तु आपने कहा कि अन्धे लोग भी उसे अनुभव करने के लिए बाध्य होंगे।

मैंने कहा कि यह उन लोगों को भी दिखायी देगा जो अशुभचिन्तक हैं—क्या यही तुम्हारा मतलब है? परन्तु वह तो एक बिलकुल अलग बात है। जब तुम्हारी नाक पर एक मुक्का पड़ता है, तो तुम उसे समझने के लिए बाध्य होते हो हालाँकि उसने तुम्हारी सहायता नहीं की!

नहीं। जब मनुष्य इस 'शक्ति' को पहचान लेता है...

हाँ।

वह उद्घाटित होने के लिए बाध्य होता है...

हाँ।

अतएव, जिस व्यक्ति ने अब तक सहायता पाने की इच्छा नहीं की थी वह भी इसे चाहेगा।

इस 'शक्ति' को पहचानेगा?—ओह! जब वह मुक्का खा लेगा! *(हँसी)*

सम्भवतः। ऐसा हो सकता है। कोई भी बात हो सकती है।

अतएव, जो व्यक्ति अभी भी अचेतन है वह आघात पाकर खुल जायेगा।

तो फिर? तुम्हारा निष्कर्ष क्या है? तुम क्या घटित होने की आशा करते हो?

कहने का तात्पर्य यह कि वह देखेगा कि यह एक चमत्कार है।

अपने ऊपर पड़ने वाले मुक्के को? *(हँसी)*

वह उसे चमत्कार नहीं कहेगा, वह उसे बुरा काम कहेगा। वह कहेगा: "यह दुर्भाग्य है,

यह मेरा अमंगलमय अदृष्ट है, यह अन्याय है", वह ऐसी सभी प्रकार की बातें कहेगा जैसी कहने की लोगों की आदत होती है।

परन्तु मैं अभी तक यह नहीं समझ पायी कि आख़िर तुम्हारे प्रश्न का अर्थ क्या है। तुम क्या पूछने की चेष्टा कर रहे हो? क्या तुम्हारा मतलब यह है कि सारा संसार, वह चाहे या न चाहे, अभीप्सा करे या न करे, पहचाने या न पहचाने, जल्दी या देर से, पृथ्वी पर अवतरित अतिमानसिक उपस्थिति के प्रभाव में आ जायेगा—क्या तुम्हारा मतलब यही है?

नहीं।

आह! यह दुःख की बात है, क्योंकि उसका तो कुछ मतलब होता। *(हँसी)* और मैंने उत्तर दिया होता: "हाँ"—और तब बात समाप्त हो गयी होती!

नहीं। जो लोग आधे खुले हैं...

वे उन लोगों से आधा अधिक ग्रहण करेंगे जो बिलकुल ही खुले नहीं हैं! (हँसी)

यह अभिव्यक्ति उनसे अधिक अभीप्सा करायेगी?

आह! यह मैं नहीं जानती। वह प्रत्येक व्यक्ति पर निर्भर करेगा। प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह बात अलग-अलग होगी।

क्या तुम स्वयं अपने लिए वक़ालत कर रहे हो?

जी।

ओह! ओह! तुम यह जानना चाहते हो कि तुम्हारे साथ क्या होगा?

अपने मन को शान्त करो, सब बिलकुल ठीक होगा। मैं लगभग वही बात कह सकती हूँ जो 'जोन ऑफ़ आर्क' के झण्डे के विषय में कहा गया था: "तुमने परिश्रम में हिस्सा बँटाया है, तुम्हें विजय में भी हिस्सा मिलेगा।" तो अब तुम सन्तुष्ट हो?

जी।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. १६३-६७

शरीर की चेतना

शरीर की चेतना का एक बहुत बड़ा भाग अवचेतन होता है और शरीर की चेतना और अवचेतना एक-दूसरे से बहुत क़रीबी रूप से जुड़ी हुई हैं। शरीर तथा भौतिक एक साथ मिलते नहीं हैं—शरीर की चेतना सम्पूर्ण भौतिक चेतना का बस एक हिस्सा होती है।
CWSA खण्ड २८, पृ. २०९

मुझे ऐसा लगता है कि माँ की शारीर चेतना में अतिमानस प्रतिष्ठित नहीं हुआ है, यह बात नहीं है कि वे उसके लिए तैयार नहीं हैं, बल्कि इसलिए कि पहले उनको साधक तथा पृथ्वी के भौतक तत्त्व को एक हद तक तैयार करना होगा। लेकिन यहाँ कुछ लोग इसे ग़लत तरीक़े से लेते हैं; वे सोचते हैं कि अतिमानस उनके शरीर में इसलिए अवतरित नहीं हुआ क्योंकि उन्होंने अभी तक पूर्णता नहीं प्राप्त की है। क्या मेरा कहना ठीक है?

निश्चित ही, अगर हम शुरू से ही भौतिक रूप से अतिमानस में रहते तो कोई भी हमारे समीप नहीं आ पाता, न कोई साधना ही हो पाती। हमारे तथा पृथ्वी और मानव के बीच सम्पर्क की कोई आशा ही नहीं रहती। अब वर्तमान में भी, हमेशा अपनी उच्च चेतना में बने रहने की बजाय श्रीमाँ को साधकों की निम्न चेतना में उतरना पड़ा, वरना वे कहना शुरू कर देते, "कितनी दूर थीं आप, कितनी कठोर थीं आप; आप मुझसे प्रेम नहीं करतीं, मुझे आपसे कोई सहायता नहीं मिलती, वग़ैरह, वग़ैरह।" मानव से मिलने के लिए भगवान् को अपने-आपको घूँघट में रखना होता है।
CWSA खण्ड ३२, पृ. ९२-९३

जो किया जा चुका है वह है, पार्थिव चेतना में, स्वयं श्रीमाँ तक, अतिमानस की अभिव्यक्ति की तैयारी, इसलिए यह केवल मेरे या श्रीमाँ के भौतिक शरीर के लिए नहीं हो सकता।
CWSA खण्ड ३२, पृ. ९२

यदि यह (अतिमानस) हमारे शरीर में उतरता है तो इसका अर्थ होगा कि यह जड़तत्त्व में उतर आया है और इसके लिए कोई कारण नहीं कि यह साधकों में अभिव्यक्त क्यों न हो।
CWSA खण्ड ३५, पृ. ३४९

अतिमानसिक सत्ता की विज्ञानमयी सत्य चेतना में अनिवार्य रूप से सत्ता के सभी भागों

तथा क्रियाओं के बीच सत्य सम्बन्ध होना चाहिये—चाहे वह वैयक्तिक सत्ता हो या विज्ञानमयी सत्ताओं का समूह—चेतना की सभी गतियों तथा जीवन की समस्त क्रियाओं में एक सहज तथा प्रोद्भासी एकता तथा समग्रता होनी ही चाहिये। सदस्यों के बीच कोई संघर्ष नहीं हो सकता; क्योंकि न केवल ज्ञान तथा संकल्प-चेतना ही, बल्कि हृदय-चेतना, जीवन-चेतना तथा शरीर की चेतना भी—जो हमारे अन्दर हमारे स्वभाव के भावुक, प्राणिक और भौतिक भाग हैं—वे भी समग्रता तथा एकता के इस सर्वांगीण सामञ्जस्य में शामिल हो जायेंगी।

CWSA खण्ड २२, पृ. १०४०-४१ **श्रीअरविन्द**

ग्राम-सुधार

(पॉण्डिचेरी के चारों ओर ग्रामों की जीवन-दशा सुधारने के बारे में योजना। शायद यह १९५० में लिखी गयी थी जब पॉण्डिचेरी भारतीय-संघ का एक अंग बन गया।)

ग्राम-सुधार का कार्यक्रम

१. स्वास्थ्य, सफ़ाई, स्वच्छता।

२. आरोग्य, शारीरिक शिक्षण, खेल-कूद।

३. सभी स्थानीय कार्यकर्ताओं के लिए कृषि, शिल्प आदि का तकनीकी प्रशिक्षण।

*

हर गाँव में एक आदमी ऐसा चुना जाये जो व्यक्तिगत रूप से बच्चों को पढ़ना-लिखना और सरल हिसाब-किताब सिखाये।

*

वयस्कों को सरल कृषि और शिल्प सिखाना।

*

सामाजिक जीवन का प्रारम्भिक ज्ञान—हर एक को अपना कुछ समय सामूहिक काम के लिए देना चाहिये।

*

श्रीअरविन्द तथा मेरे ग्रन्थों के कुछ बहुत सरल और छोटे उद्धरण आदर्श-वाक्यों के रूप में दिये जा सकते हैं।

श्रीमाँ

श्रीअरविन्द के उत्तर

(९०)

शाम को मुझे बहुत शुष्कता महसूस हुई। न प्राणिक आदान-प्रदान की कोई प्रवृत्ति थी (मानों वह अब बन्द हो गयी है) न कोई ठोस चीज़ ही प्रतिष्ठित हुई थी। शायद ऐसा घण्टे-भर तक रहा। अन्त में मुझे आत्मा का चैन और शान्ति का अनुभव हुआ, और मुझे आश्चर्य हुआ कि मैं ऐसी अवस्था में हमेशा क्यों नहीं जी सकता।

साधारणतः शुष्कता तटस्थ अचञ्चलता के मार्ग पर होने का सूचक है—जब प्राण अपनी उत्तेजना से पीछे हट जाता है तो वह तटस्थता पर शुष्कता का रंग चढ़ा देता है। शान्ति में रहना आत्मा की स्वाभाविक अवस्था है, अतः यह यौगिक चेतना का आधार है—यह भी सम्भव है कि जब शान्ति इतनी गहरे प्रतिष्ठित हो जाती और फैल जाती है तो प्राणिक प्रहार तक न उस पर छा सकता है न उसे भेद ही सकता है।

१ जुलाई १९३५

"प्राण अपनी उत्तेजना से पीछे हट जाता है तो वह तटस्थता पर शुष्कता का रंग चढ़ा देता है"—क्या इसका यह अर्थ है कि जब अन्दर शान्ति होती है तो वह उसे पसन्द नहीं करता और अपनी उत्तेजना को पीछे खींच लेता है?... उदाहरण के लिए, आज शुष्कता का भाव नहीं था; न मैं यह कह सकता हूँ कि शान्ति जैसी कोई चीज़ ही थी, हालाँकि अचञ्चलता का पुट अवश्य था। निस्सन्देह, मैं अपनी इन भावनाओं पर बहुत कम निर्भर करता हूँ क्योंकि हो सकता है कि न यह अचञ्चलता हो न शान्ति बल्कि बस एक ऐसी अवस्था हो जिसमें व्यक्ति पर्याप्त रूप से रमा हुआ हो।

स्वभाव की साधारण ताज़गी, ऊर्जा और उत्साह या तो प्राण से प्रत्यक्ष रूप में तब आते हैं जब प्राण अपनी प्रवृत्तियों, आवेगों को सन्तुष्ट करने में लगा हो और अप्रत्यक्ष तब जब वह मानसिक, भौतिक या आध्यात्मिक क्रिया-कलापों में सहयोग देता या उन्हें स्वीकार कर लेता है। अगर प्राण प्रतिरोध करे तो विद्रोह और संघर्ष उठ ही आते हैं। अगर प्राण अपने आवेगों तथा अपनी प्रवृत्तियों पर आग्रह न करे, लेकिन साथ भी न दे, तो या तो शुष्कता आ जाती है या फिर तटस्थता। शुष्कता तब आती है जब प्राण शान्त होता है, लेकिन निष्क्रिय रूप से अनिच्छुक, उसे रस नहीं होता, तटस्थता है वह अवस्था जिसमें वह न तो स्वीकारता है, न

अनिच्छुक होता है, बस शान्त और निष्क्रिय बना रहता है। बहरहाल, ऊपर की उस महानतर बाढ़ के द्वारा तटस्थ अवस्था सकारात्मक अचञ्चलता तथा शान्ति में गहरे उतर सकती है जो बाढ़ प्राण को न केवल शान्त कर देती है बल्कि उसे वह अपनी मौन स्वीकृति भी दे देता है। प्राण के सक्रिय रस और उसकी स्वीकृति द्वारा शान्ति प्रसन्न और हर्षपूर्ण हो जाती है या सहारा देती हुई एक प्रबल शान्ति क्रिया में प्रवेश कर जाती है या सक्रिय अनुभूति प्रदान करती है।

मुझे अपने एक दोस्त के बारे में सपना आया जिसने 'प' को अभी कुछ दिन पहले लिखा था कि वह यहाँ आकर हमसे मिलना चाहता है। उसने आकर साधना के बारे में कुछ प्रश्न पूछे और मैंने उनका जवाब दिया। प्रसंगवश मैंने उससे यह भी कहा कि रामकृष्ण भी यहाँ आये थे—चूँकि हम दोनों को वे बहुत अच्छे लगते थे। वह व्यंग्यपूर्वक मुस्कुराने लगा और उसने कहा कि रामकृष्ण को अब दोबारा इस संसार में आने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि वे एक मुक्त आत्मा हैं! मैंने उससे कहा, "लेकिन यह योग सब कुछ को ऊर्जाशील बनाने का योग है!" वह व्यंग्यपूर्वक ही मुझे देखता रहा। मैंने कठोर होकर उससे कहा, "हम अपनी बातचीत यहीं ख़तम करते हैं; मैं तुम्हें और सुनना नहीं चाहता। तुम्हारे अन्दर इस बात पर विश्वास करने की रत्ती-भर श्रद्धा नहीं है।" उस समय मैंने माँ को ऊपर आते देखा और मैंने माँ को उसे दिखलाया। लेकिन वह कुछ कह न सका और जल्दी ही ग़ायब हो गया। शायद वह मेरा दोस्त न होकर, ऊर्जस्वी साधना पर व्यंग्यभरा मनोभाव रखने वाला कोई असुर रहा होगा।

ऐसा बहुत बार होता है—कोई प्राणिक शक्ति जाना-पहचाना रूप ले लेती है। लेकिन बहुत से मामलों में वह स्वयं व्यक्ति या उसका कोई भाग आता है—सामान्यतः प्राणिक भाग। तब वह इन दोनों बिन्दुओं पर मानव मन के साधारण विचारों की अभिव्यक्ति होगी, वह उत्तर जिसे अधिकतर लोग देने के आदी होते हैं, क्योंकि वे चीज़ों को परम्परागत दृष्टिकोण से ही देखते हैं।
२ जुलाई १९३५

आज के जितनी गहरी और इतने लम्बे समय तक चलने वाली शुष्कता का मैंने शायद ही पहले कभी अनुभव किया हो। मैंने भविष्य में देखने की कोशिश की और ऐसा महसूस किया मानों यह अन्त हो, कुछ ख़तम होने वाला था—शायद जीवन, शायद साधना या शायद कठिनाइयों के तीव्र क्षण। ऐसा लगा मानों वहाँ पास में कोई दीवार खड़ी थी और व्यक्ति उसके उस पार नहीं जा सकता था। शुष्कता ऐसी थी कि मैं डर गया कि किसी से बातचीत करके या किसी के सामने मुस्कुरा कर कहीं मैं उसे बढ़ा न दूँ। साथ ही मुझे महसूस हुआ कि मैं अकेला था। दूसरों

के साथ मेरा कोई सम्बन्ध न था, मुझे दूसरों की कोई आवश्यकता ही नहीं थी।

अन्तिम भाव तब आसानी से आ सकता है जब स्वभाव की साधारण गतियों से व्यक्ति छूट जाता या उनसे अलग हो जाता है, भले वह छुटकारा अस्थायी ही क्यों न हो। शुष्कता, दीवार का अनुभव भौतिक सत्ता पर डाला हुआ यह प्रभाव है कि वह व्यक्ति अपनी पुरानी चेतना को तज कर शान्ति में प्रवेश करे। भौतिक के लिए यह कल्पना से परे की बात है कि किसी नयी चेतना में खुलना सम्भव है; अगर भौतिक चेतना का अन्त हो जाये तो प्रकृति सोचती है कि सब कुछ समाप्त हो गया।

क्या यहाँ बहुत से लोगों पर भूतबाधा का प्रकोप होता है? शक्ति किसी व्यक्ति-विशेष को कैसे चुनती है? अगर व्यक्ति की कोई भी कमज़ोरी उसके लिए प्रवेश-द्वार बन सकती है, तब तो शायद ही कोई ऐसा बचे जो भूतबाधा से ग्रस्त न हो। या फिर यह अधिक आवेशी अथवा अनगढ़ लोगों पर क्रिया करती है, तब तो सभी प्राणिक-प्रधान लोगा में उसकी क्रिया चलती ही रहेगी न? और अगर वह किसी को आत्महत्या करने या उसे पागल बना देने या यहाँ से चले जाने में सफल न हो पाये तो उसकी क्रिया का उद्देश्य क्या है भला? शायद उसे इस बात का सन्तोष मिलता हो कि कोई इनसान उसके चंगुल में फँसा हुआ है।

काफ़ी संख्या में भूतबाधा-ग्रस्त ऐसे लोग हैं जो कुछ समय के लिए या बीच-बीच में इस आवेश के चंगुल में आ जाते हैं, एक या दो तो बहुत जल्दी-जल्दी इसमें फँस जाते हैं—हालाँकि बहुत कम लोगों में यह बहुत गम्भीर होती है। बहुत गम्भीर से मेरा मतलब है कि वह आवेग उन्हें इतनी बुरी तरह से घेर लेता है कि जब तक वे ग्रस्त रहते हैं, कोई भी दुःसाहसी अनर्थ कर सकते हैं। वे सभी लोग जो प्राणिक और आवेशी होते हैं, इसके प्रति खुले रहते हैं या यह कहें कि खुल सकते हैं जब तक कि उनका मानसिक संकल्प इतना प्रबल न बन जाये कि वह इन प्रहारों को ढूँढ़ निकाले या इन्हें समाप्त कर दे। अन्धकारमयी शक्ति को अपने अनुभव से हमेशा यह सन्तोष रहता है कि व्यक्ति पर वह फिर भी कार्य कर सकती है, कि वह उसके शिकंजे से पूरी तरह छूटा नहीं है; लेकिन उस शक्ति का मुख्य उद्देश्य इस आशा में बसा होता है कि बार-बार आकर और अधिकाधिक व्यक्तियों को अपने चंगुल में फँसाने में वह अन्ततः सफल हो जायेगी और १. ऐसा करके वह अन्धकारमयी शक्ति आश्रम के वातावरण को ख़राब और अन्धकारमय कर देगी ताकि वह रोग संक्रामक बन जाये और उसे इतना व्यापक तथा इतने पर्याप्त रूप में प्रबल कर देगी कि हमारे कार्य का आगे बढ़ना असम्भव हो जाये, २. वह साधक के बाद साधक को आश्रम से बाहर निकालने की कोशिश करेगी, ३. बढ़ती हुई संख्या में लोगों को पूरी तरह से असन्तुलित करने का प्रयास करेगी, ४. वह

कोशिश करेगी कि विरोधी दबाव के परिणाम-स्वरूप माताजी का स्वास्थ्य बिगड़ जाये और यह भी कि हम वर्तमान में, साथ ही इस जीवन में अपने कार्य की सफलता के प्रति पूरी तरह हताश हो जायें। यह कोई सम्भावना नहीं बल्कि उसकी पूरी-पक्की योजना है जिसकी उसने एकदम निश्चित रूप से और बहुत दृढ़तापूर्वक बहुत बार घोषणा की है।
५ जुलाई १९३५

मुझे याद है कि छह से बारह साल का होने तक मेरे पिताजी मुझे गुजराती में "वलवलिओ" यानी, अशान्त और अस्थिर कह कर पुकारा करते थे। कार्य करते समय और अन्य गतिविधियों में भी बहुत समय तक बहुत तन्मयता से लगे रहने पर भी मेरे अन्दर की अस्थिरता घटने की बजाय बढ़ती ही जा रही है, विशेषकर महिलाओं के बारे में अस्थिरता।

अशान्ति और अस्थिरता बाहरी सत्ता में हैं, लेकिन साथ ही तुम्हारे अन्दर इच्छा की शक्ति तथा संकल्प भी मौजूद हैं, और अगर तुम दोबारा इन्हें कस कर पकड़ लो और हाथ से छूटने न दो तो तुम उन्हें प्रभावहीन बना सकते हो।

कितना सतही, छिछला जीवन जी रहा हूँ मैं—वह दुष्चक्र फिर से शुरू हो गया है। जितना मैं उससे निकलने की कोशिश करता हूँ, उतना ज़्यादा फँसता जाता हूँ। क़रीब-क़रीब सारे दिन 'च' का रूप मेरे सामने मँडराता रहा और मैं उसी के बारे में सोचता रहा।

मेरे ख़याल से यह प्राण का स्वभाव है, जब मन या फिर परिस्थितियों के कारण किसी चीज़ की मनाही कर दी जाती है तो वह उसी के पीछे भागता है। लेकिन मेरा मानना है कि अगर तुम मज़बूत रहो तो यह चीज़ गुज़र जायेगी।
७ जुलाई १९३५

क्या १९३३ में "साधना की गति निरन्तर चल रही थी"? मेरे ख़याल से वह बिना किसी सच्ची दृढ़ता के बस मानसिक साधना थी। अगर वह दृढ़ होती, तो मैं इतनी हद तक कैसे गिर जाता कि मात्र जीना भी प्रायः असम्भव हो गया है? कम-से-कम यह अशान्ति तो नहीं थी, हाँ, अगर वह पीछे छिपी पड़ी हो और अब पिछले दो सालों से इतने स्पष्ट रूप में उभर आ रही है तो बात अलग है। और फिर, क्या मेरा यह सोचना सचमुच व्यर्थ नहीं है कि मैं कोई साधना कर रहा हूँ?

उस समय सचमुच एक सच्ची साधना और मानसिक तथा प्राणिक स्तरों पर एक बहुत स्थिर और अध्यवसायी तैयारी चल रही थी। अगर ऐसा नहीं होता तो शान्ति के अवतरण होने आरम्भ नहीं होते। पतन इसलिए आया क्योंकि तैयारी को सम्पन्न करने के लिए जब तुम भौतिक चेतना में नीचे उतरे, वहाँ तुम बहुत निष्क्रिय हो गये, तुमने तपस्या की अपनी इच्छा को बनाये नहीं रखा और इसके फलस्वरूप, अपने-आपको पूरी तरह थोपने के लिए सेक्स-शक्ति ने भौतिक चेतना के तमस् का फ़ायदा उठाया। जब भौतिक में अवतरण होता है तो शक्तियों के प्रति इस तरह की निष्क्रियता बहुतों के ऊपर टूट पड़ती है; तब व्यक्ति अपनी चेतना में विभिन्न शक्तियों को खेलते देखता है और उसके अन्दर प्रतिक्रिया करने की वही समान शक्ति नहीं होती जो मन तथा प्राण में कार्य करते समय होती है—कभी ऊपर से शान्ति इत्यादि उतरती हैं तो कभी उत्पातकारी शक्तियाँ। मुझे स्वयं इसी समान अवस्था से गुज़रना पड़ा और इससे बाहर निकलने में मुझे कम-से-कम दो वर्ष लगे। इससे बाहर निकलने का सर्वोत्तम उपाय है—स्वयं भौतिक में यह सतत संकल्प विकसित करना कि वह उच्चतर चेतना से चीज़ें नीचे खींचे—विशेष रूप से ऊपर से 'शान्ति' तथा 'शक्ति' को नीचे उतारे।

१९३३ में जो परिस्थितियाँ थीं आज उससे भिन्न हैं। तब मुझे बहुत लोग नहीं जानते थे और मैं क़रीब-क़रीब सभी से आसानी से कतरा कर निकल जा सकता था, लेकिन आज परिस्थितियाँ इतनी जटिल बन गयी हैं। फिर भी, उनसे बच कर निकलना—ख़ासकर महिलाओं से—पूरी तरह असम्भव नहीं है। साधना की निरन्तर क्रिया को दोबारा व्यवस्थित करना कैसे सम्भव है भला जब तक कि त्यागने की भीषण प्रक्रिया नहीं अपनायी जाती? किसी भी दृढ़ वस्तु को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए स्थिति की पूरी-पूरी जाँच करनी होगी।

निस्सन्देह, स्थिति की पूरी-पूरी जाँच करना आवश्यक है—त्याग भी करना होगा। लेकिन प्रश्न है कि कहाँ तक लोगों से पूरी तरह कतराया जाये या पूरी तरह अन्तर्मुख होकर रहा जाये।

मेरे बाहरी हिस्से इतने विशाल हैं कि वे ही प्रायः सारी चेतना पर क़ब्ज़ा किये हुए लगते हैं। तब हम कैसे कह सकते हैं कि आन्तरिक सत्ता महानतर और विशालतर है? जितना हम साधारण गतिविधियों को देखते हैं, उतना अधिक हम पाते हैं कि हम बाहरी सत्ता के सिवाय और कुछ नहीं देख रहे। हम सोचने लगते हैं कि जिस आन्तरिक सत्ता की हम बात करते हैं उसका महत्त्व और उसकी शक्ति बहुत नगण्य हैं।

उपनिषद् में चैत्य सत्ता को—अङ्गुष्ठ-मात्रः—अँगूठे के बराबर कहा गया है! निस्सन्देह यह प्रतीकात्मक चित्र है। क्योंकि सामान्यतया जब कोई किसी की चैत्य सत्ता को आकार के रूप

में देखता है तो वह अँगूठे से बड़ी होती है। जहाँ तक आन्तरिक सत्ता की बात है, व्यक्ति उसे बड़ा इसलिए अनुभव करता है क्योंकि सच्ची मानसिक या सच्ची प्राणिक, यहाँ तक कि सच्ची भौतिक सत्ता भी चेतना में उस बाहरी चेतना से ज़्यादा विशाल है जो केवल शरीर तक सीमित है। अगर ऐसा लगे कि बाहरी हिस्से सारी चेतना पर छाये हुए हैं, तब व्यक्ति नीचे भौतिक में उतर आता है और वहाँ 'प्रकृति' की समस्त क्रियाओं को क्रीड़ा करते हुए अनुभव कर सकता है—यहाँ तक कि मानसिक तथा प्राणिक क्रियाओं को भी वह किसी पृथक् स्तर पर नहीं बल्कि भौतिक के द्वारा ही अनुभव करता है। लेकिन जब व्यक्ति आन्तरिक सत्ता में रहता है तब वह एक ऐसी चेतना के बारे में सचेतन हो जाता है जो विश्व में फैलना शुरू कर देती है और बाहरी चेतना केवल एक सतही क्रिया रह जाती है जिसे वैश्व शक्तियाँ ऊपर उठा देती हैं।
८ जुलाई १९३५

दूसरों से पूरी तरह कतराने से मेरा यह मतलब नहीं है कि मैं कभी किसी से बातचीत भी नहीं करूँगा। इसका बस यही अर्थ है कि मैं किसी के साथ सम्पर्क रखने की बात न सोचूँगा न उसकी इच्छा ही करूँगा, अगर ज़रूरत पड़ी तो कुछ बातचीत कर लूँगा, लेकिन अवसर मिलते ही लपक कर बातें करने न पहुँच जाऊँगा। निस्सन्देह, थोड़ी बातचीत करने पर भी कठिनाई होती है—बातें करने के बाद मन बार-बार उसी प्रसंग पर आ ठहरता है और अगली बार के सम्पर्क के बारे में सोचने में लगा रहता है। इसलिए अगर मैं लोगों से मिलना ही छोड़ दूँ तो वे भी मुझसे बातें करने नहीं आयेंगे और मैं बस ज़रूरत होने पर ही उनसे बात करने जाऊँगा। अगर मैं इस नियम को अपने ऊपर लागू न करूँ तो होता यह है कि किसी से मिलने पर अगर वह व्यक्ति कुछ परिहास कर बैठे, हँसी-ठट्ठा करने लगे तो उसकी छूत मुझे भी लग जायेगी, व्यक्ति छितरा जायेगा, अगर व्यक्ति बहुत सक्रिय हो और तुरन्त अन्तर्मुख हो जाये तो दूसरी बात है, नहीं तो वह अपने-आपको संयम में न रख पायेगा।

निश्चित रूप से, इस तरह किया जा सकता है। सम्भावना बस इस बात की है कि तुम्हें यान्त्रिक मन की उस क्रिया का सामना करना होगा जो विचार के विषय पर अभ्यासवश घूम-घूम कर लौट आती है और तुम बातचीत के उसी विचार के चारों तरफ़ चक्कर काटने लगते हो। लेकिन अगर तुम दृढ़ निश्चय करके, इस चक्रव्यूह से बाहर निकल आओ तो सामान्यतया वह चीज़ ठोस ख़ुराक के अभाव में मन्द पड़ जाती है और नये सम्पर्कों को चारा नहीं डालती।
९ जुलाई १९३५

साधना में ख़तरा ज़्यादा किससे आता है—यान्त्रिक मन या फिर भौतिक प्राण से?

यान्त्रिक मन समान विचारों की जुगाली करता ही रह सकता है, लेकिन अगर वह भौतिक प्राण पर दबाव डाले और भौतिक प्राण अपने ही आनन्द और ख़ुशी के लिए उसका उपयोग करना चाहे तब तो कोई भी उचित परिणाम नहीं आयेगा। या शायद जब मन के उच्चतर भाग नीरव हो जाते हैं तब यान्त्रिक मन असामान्य अनुपात ग्रहण कर लेता है और विक्षोभों को बाहर निकालने के लिए पर्याप्त रूप से शोर-शराबे की फ़ैक्ट्री बन जाता है।

हाँ, यही होता है। इस स्तर पर यान्त्रिक मन अवचेतन का इतना अधिक प्रतिनिधित्व करता है कि वह ऊपर जाग्रत् चेतना में उठ आता है और तब वह आसानी से प्राण-भौतिक पर दबाव डाल सकता है; तब कामुक-विक्षोभ का आना भी सम्भव हो जाता है।

क्या यह हमेशा अनिवार्य होता है कि यान्त्रिक मन की क्रिया या अवचेतना अथवा भौतिक-प्राण से चीज़ें हर कुछ दिनों में ऊपर उभर आयें, जैसा कि अब तक होता आ रहा है? उदाहरण के लिए, मान लीजिये कि व्यक्ति अपने-आपको लम्बे बौद्धिक अध्ययन में रमा ले, क्या तब भी व्यक्ति की साधना के दौरान, बीच-बीच में यान्त्रिक मन फिर भी ऊपर उठ आये? मुझे लगता है कि अब मेरे अन्दर यान्त्रिक मन या भौतिक-प्राण की कोई क्रिया नहीं चल रही। क्या इसका यह अर्थ है कि मैं उच्चतर मन या उच्चतर प्राण पर कार्य कर रहा हूँ?

अगर चेतना के उच्चतर भागों की प्रबल क्रिया चल रही हो तो यान्त्रिक मन के क्रियारत होने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। आराम अथवा थकान के कालों में वह भले ही ऊपर उठ आये, लेकिन सामान्यतः वह गौण तरीक़े से क्रिया करती है जिस पर व्यक्ति का ध्यान तक नहीं जाता।

अगस्त के पहले मैं श्रीमाँ के साथ कुछ बातचीत करना चाहता हूँ अगर उन पर लोगों से मिलने-जुलने, 'इंटरव्यू' इत्यादि का अधिक दबाव न हो—शायद लोगों के साथ के साक्षात्कार कुछ ही दिनों में शुरू हो जायें।

माँ ने तुम्हारा नाम लिख लिया है और वे देखेंगी कि तुमसे मिलने के लिए कौन-सा दिन निश्चित करें।
१० जुलाई १९३५

बहुत दिनों से 'स' अच्छी अवस्था से बहुत दूर है। यह "दूसरों की मदद करना" बड़ी ख़तरनाक

चीज़ है। यह चीज़ "गुरुपन" के अहंकार को ले आती है या फिर तुम बहुत अनिश्चित रूप से दूसरों को उनकी कठिनाइयों से मुक्ति दिला देते हो और बहुत निश्चित रूप से उन्हें अपने ऊपर ले लेते हो। "तुम्हारे इतने शिष्य क्यों हैं?" किसी मनीषी ने एक सन्त से पूछा (मैं दोनों के नाम भूल रहा हूँ); "शिष्य होने का अर्थ ही है, उनकी सभी कठिनाइयों को अपनी कठिनाइयों से जोड़ना।" "दूसरों की मदद करना" इसमें भी वही समान हानि होती है।

जब रामकृष्ण साधना कर रहे थे, श्रीमाँ भौतिक रूप से धरती पर थीं—१८७८ से १८८६ तक—अपने बचपन के पहले आठ वर्ष। क्या उन्हें मालूम था कि माँ धरती पर उतरी हैं? उन्हें माँ का कुछ अन्तर्दर्शन तो प्राप्त हुआ ही होगा, लेकिन इस तथ्य की निश्चिति के बारे में हमने कहीं कुछ नहीं पढ़ा। और जब रामकृष्ण माँ का आह्वान तीव्रता से कर रहे थे तब श्रीमाँ ने उस उम्र में कुछ अनुभव किया क्या?

माँ ने बचपन के अपने अन्तर्दर्शनों में मुझे देखा जिसे वे "कृष्ण" के नाम से जानती थीं—उन्होंने रामकृष्ण को नहीं देखा।

यह ज़रूरी नहीं था कि रामकृष्ण को माँ के धरती पर उतरने का अन्तर्दर्शन प्राप्त होता, क्योंकि वे भविष्य के बारे में नहीं सोच रहे थे, न सचेतन रूप से उसके लिए तैयारी ही कर रहे थे। मुझे नहीं लगता है कि श्रीमाँ के अवतार-रूप के बारे में रामकृष्ण कुछ जानते थे।
११ जुलाई १९३५

मैंने श्रीमाँ की "प्रार्थनाएँ" पढ़ कर और अपने अन्दर उच्चतर भागों की प्रबल क्रिया को बनाये रख कर स्वयं को सक्रिय रखा। यान्त्रिक मन ने समय-समय पर सिर उठाया ज़रूर, लेकिन मैंने उसकी अवहेलना कर उसे तुरन्त उच्चतर गतिविधि की तरफ़ मोड़ दिया। लेकिन फिर आज के सपने में मेरे सभी पुराने रिश्तेदार और मेरी सारी क्रियाएँ बहुतायत में मुझ पर बरस पड़ीं, मानों दिन में उन पर जो रोक लगायी गयी थी वह बदले के रूप में फट पड़ी।

हाँ। जाग्रत् अवस्था में जिस-जिस चीज़ पर हम प्रतिबन्ध लगाते हैं वह अवचेतना में नीचे (या पीछे) चली जाती है और सपनों में ऊपर उठ आती है। लेकिन ऐसे बहुत से लोग हैं जो कहते हैं कि वे गुजरात और अपने रिश्तेदारों (या फिर किसी और जगह तथा रिश्तेदारों) और अतीत की बातों के बारे में कभी नहीं सोचते, लेकिन सालों साल उनके सपने उन्हीं से ठसाठस भरे रहते थे। व्यक्ति के पुरातन स्वभाव, भूतकाल की आदतों, हर तरह के पुराने संस्कारों का अन्तिम ठिकाना अवचेतना ही है। वहीं पर वे बहुत समय तक बसे रहते हैं।

सवेरे, शरीर में हलकेपन का विचित्र-सा भाव था, शरीर में क़रीब-क़रीब मुक्ति तथा हर्ष का भाव था। लेकिन मैंने मन से कहा, "धीरे-धीरे, आराम से, अपने घोड़े इतनी तेज़ी से न दौड़ाओ—मुक्ति इतनी आसान नहीं होती और इतनी जल्दी और इतने नगण्य से प्रयास से नहीं आती। यह शायद बारिश और मन्द-शीतल बयार से उपजी शीतलता हो।"

यह तो पर्जन्य तथा वायु को बहुत अधिक श्रेय देना हुआ। लेकिन यह सच है कि मुक्ति को स्थापित करने में समय लगता है।
१३ जुलाई १९३५

दोपहर के बाद मुझे भारीपन महसूस हुआ और सुस्ती बढ़ती ही चली गयी। शाम को मैंने शरीर की अनेकानेक चेष्टाएँ कीं, लेकिन सब व्यर्थ। ख़ासकर कमर में मुझे ऐसा महसूस हुआ मानों बहुत ही ज़्यादा थकान हो। छह बजे के बाद मैं कुछ देर तक लेटा ही रहा; ध्यान के बाद भी मैंने वही किया। नहाने के बाद अब कुछ हलकापन आया है। मैं तो यह बात पूरी तरह से भूल गया था कि सुस्ती को झाड़ फेंकने का बढ़िया तरीक़ा है—स्नान। लेकिन कभी-कभी हम इतने नीरस और सुस्त होते हैं कि उस नीरसता से बाहर ही नहीं निकलना चाहते!

प्राणिक-भौतिक का असहयोग? या शान्ति के अवतरण के लिए शरीर का विरोध? दूसरी बात सही लगती है। ऐसे काल आते हैं जब व्यक्ति को तमस् का शुद्ध और सम्पूर्ण अनुभव होता है, उदाहरण के लिए, व्यक्ति नितान्त रूप से, पूरी तरह, सर्वतः, अबाध रूप से सुस्त पड़ा रहता है, सुस्त बना रहना चाहता है और कुछ भी करना नहीं चाहता। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो इसमें महान् आनन्द अनुभव करते हैं। मेरे ख़याल से यह जड़-भौतिक के साथ तदात्म है और इसमें उस स्थिति का कुछ बोध होता है जिसे संन्यासी जड़-समाधि या जड़-प्रकृति में लय कहते हैं। शायद प्रसिद्ध "जड़ भरत" ऐसे ही थे।

ऐसा लगता है कि जैसे ही व्यक्ति कम बोलना शुरू करता है और उसके सम्पर्क भी बहुत थोड़े रह जाते हैं, वह सिद्ध बन जाता है! उस दिन 'म' ने क़सम खायी थी कि वह मुझसे बातचीत नहीं करेगी, आज जब मेरा उससे सामना हुआ तो उसने मुझसे कहा, "शायद तुम सिद्ध बन गये हो!" चौबीस घण्टे बक-बक करने वाली अगर वह 'म' न होती तो उसकी बात मुझे चुभ जाती। बहरहाल, उसने जो मज़ाक किया उसमें सच्चाई का पुट अवश्य है—और ऐसी सम्भावना है कि मैं अभिमानी बन जाऊँ और उन लोगों को अवज्ञा की दृष्टि से देखूँ जो सामान्य रूप

से बातें करते हैं। मुझे मालूम है कि ऐसा 'ग' के साथ हुआ था और उसने मुझसे कहा था कि उन दिनों 'प्रॉस्पेरिटी-दिवस' (हर महीने की पहली तारीख़ जब श्रीमाँ साधकों की ज़रूरतमन्द चीज़ें स्वयं उन्हें बाँटा करती थीं।) का वातावरण बहुत ख़राब रहता था। (क्योंकि लोगों का शोरगुल वातावरण में भरा रहता था)। मुझे मालूम नहीं कि अब जब वह शहर में घूमा करता है तो वहाँ का वातावरण क्या बहुत बढ़िया होता है—वह स्पष्ट रूप से अभिमान तथा गर्व था। लेकिन मेरे लिए सिद्ध बनना! लेकिन आख़िरकार सिद्ध बहुत ऊँचे स्तर के तो नहीं होते—गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सिद्ध। अगर सिद्ध इस दल के वासी हैं तब तो व्यक्ति उनकी शक्तियों या उनके पद के लिए अभीप्सा नहीं करेगा।

वे अलग प्रकार के सिद्ध होते हैं! मुझे मालूम नहीं कि क्यों 'म' यह दावा करती है कि चुप रहना सिद्ध होने की निशानी है। वह तो जब व्यक्ति सिद्ध बनना चाहता है कि वह नीरव हो जाता है, और जब वह बन जाता है तब नीरवता की आवश्यकता नहीं रहती। बहरहाल, यह नियम 'म' पर लागू नहीं होता, क्योंकि जिस दिन वह नीरव या चुप हो जायेगी, हम सभी आश्चर्य और प्रशंसा से भर उठेंगे और सैकड़ों मुखों से उसके सिद्धत्व प्राप्त करने की घोषणा करेंगे। शायद यही कारण है कि वह तुम्हारी चुप्पी को उसी दृष्टिकोण से देख रही है।

१४ जुलाई १९३५ **श्रीअरविन्द**